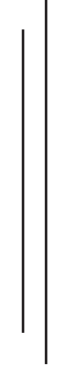


ऐसे क्या पाप किए

(नित्य जीवनोपयोगी ३ मौलिक कहानियाँ एवं १९ निबन्ध)



लेखक :

अध्यात्मरत्नाकर, सिद्धान्तसूरि, जैनरत्न

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

प्रथम संस्करण :	५,०००
(१५ अक्तूबर, २००४)	
द्वितीय संस्करण :	३,०००
(२२ जुलाई, २००५)	
वीर शासन जयन्ती	
तृतीय संस्करण :	३,०००
(२६ जनवरी, २००६)	
गणतंत्र दिवस	
जैनपथ प्रदर्शक (सम्पादकीय)	३,५००
योग	१४,५००

विक्रय मूल्य :
१५ रुपए मात्र

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय : तृतीय संस्करण

हमने कल्पना भी नहीं की थी कि इस कृति को इतने जल्दी पुनः-पुनः प्रकाशित करना पड़ेगा। आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि प्रस्तुत कृति का पाँच हजार का प्रथम संस्करण मात्र पाँच माह में एवं ३ हजार का द्वितीय संस्करण छह माह में ही समाप्त हो गया है, फिर भी निरन्तर माँग बनी हुई है। अतः यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। इस संस्करण के अन्त में लेखक द्वारा लिखित दो नवीन मौलिक कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं।

कृति की उत्कृष्टता एवं लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है। ऐसी उत्कृष्ट कृति के लिए हम लेखक के प्रति पुनः-पुनः कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। इस संस्करण में कीमत करनेवालों को धन्यवाद। - **ब्र. यशपाल जैन**, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री,

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रकाशकीय : प्रथम संस्करण

यह लिखते हुए हम गौरवान्वित हैं कि लोकप्रिय कृतियों के ख्यातिप्राप्त लेखक पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल अपने दायित्वों का भलीभाँति निर्वाह करते हुए सत्साहित्य के सृजन, सम्पादन एवं अनुवाद कार्य में भी अग्रगण्य हैं।

हिन्दी के अध्यात्मरसिक पाठकों की दृष्टि से आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आपके द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अनेक ग्रन्थों पर गुजराती भाषा में हुए प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद हुआ है जो अबतक पंद्रह पुस्तकों के रूप में लगभग ६ हजार पृष्ठों में अत्यन्त सरल-सुबोध, सीधी-सादी, सरल साहित्यिक हिन्दी भाषा में पाठकों तक पहुँच चुका है तथा पाँच पुस्तकों का सम्पादन आपने किया है।

इस श्रमसाध्य कार्य के सिवाय आपने २१ ऐसी मौलिक आध्यात्मिक लोकप्रिय पुस्तकें लिखी हैं, जिन्हें बहुसंख्य पाठकों ने न केवल पढ़ा और सराहा ही है; बल्कि घर-घर और जन-जन तक पहुँचाने में भी तन-मन-धन से भरपूर योगदान दिया है। तभी तो सभी कृतियों के हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, कन्नड़ सहित आठ-आठ, दस-दस संस्करण प्रकाशित होकर बिक्री के रिकार्ड तोड़ चुके हैं।

हमें आशा है लेखक की अन्य कृतियों की भाँति यह कृति भी पाठकों को पसन्द आयेगी। प्रस्तुत कृति में लेखक ने अध्यात्म और आगम के आलोक में २१ निबन्धों के रूप में जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। यदि व्यक्ति इन सिद्धान्तों को भलीभाँति समझ ले और उन पर बारम्बार चिन्तन-मन्थन करे तो उसका जीवन स्वावलम्बी हो सकता है, सुखी हो सकता है।

इतनी सुन्दर-सुन्दर कृतियाँ लिखकर लेखक ने जो अभिनन्दनीय कार्य किया है, उसके लिए जितना भी बहुमान किया जाय, कम ही होगा।

इस कृति की कीमत कम करने में जिन महानुभावों का आर्थिक योगदान मिला है, हम उनके आभारी हैं। पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था एवं साफ सुथरे आकर्षक मुद्रण के लिए अखिल बंसल एवं प्रिन्ट ओ लैण्ड धन्यवादार्ह हैं।

दिनांक : १५ अक्तूबर २००४

- **ब्र. यशपाल जैन**

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

लेखकीय

प्रस्तुत तृतीय संस्करण में बीस निबन्ध एवं तीन कहानियाँ हैं। ये गद्य रचनार्ये ऐसी सरल, सुबोध, सरस और सारगर्भित हैं कि सबकी समझ में तो ये आसानी से आयेंगे ही; जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी ला सकते हैं। मिथ्या मान्यता की कंटकाकीर्ण ऊँची-नीची दुःखद पगडंडी पर बढ़ते कदम सच्चे सुख की समतल सड़क की ओर मुड़ सकते हैं।

इन निबन्धों के तैयार होने का प्रसंग ऐसे बना कि मेरे मना करने पर भी जब आयोजकों ने मेरे अभिनन्दन में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बना ही डाली तो मैंने विशुद्ध भाव से उन्हें यह सलाह दी कि यदि यह काम आपको करना ही है तो उक्त ग्रन्थ में ७५ प्रतिशत प्रकाश्य सामग्री तात्विक हो। शेष २५ प्रतिशत में भी मेरे व्यक्तित्व की चर्चा न कर मेरे साहित्य के समीक्षात्मक लेख ही हों। व्यक्तित्व की बातें तो आटे में नमक बराबर ही हों। व्यक्तित्व की बातें भी वे ही हों, जिनसे पाठकों को अपने व्यक्तित्व विकास की और सदाचारी जीवन जीने की प्रेरणा मिले।

आयोजकों और सम्पादकों ने मेरी यह सलाह मान तो ली; परन्तु तात्विक सामग्री के संकलन का काम करने को मुझे ही बाध्य कर दिया। साथ ही इस बात पर जोर डाला कि आप अपने पुराने काल कवलित उन आध्यात्मिक लेखों का संकलन करें जो अब तक पुस्तक के रूप में नहीं छपें हों।

तदनुसार मैंने २५ वर्ष पूर्व से लेकर अद्यावधि तक के उपयोगी लेखों को परिमार्जित करने का काम प्रारंभ किया ही था कि एक दिन पण्डित पूनमचन्दजी छाबड़ा ने सहजभाव से पूछ लिया - “क्या लिख रहे हो?” मैंने उनसे बिना कुछ कहे उन्हें एक-दो लेख पढ़ने को दे दिए; उन्हें वे लेख बहुत अच्छे लगे। फिर तो मैं एक-एक लेख तैयार करता रहा और वे उन्हें मनोयोगपूर्वक पढ़ते रहे और प्रत्येक निबन्ध की प्रशंसा कर मेरा उत्साह बढ़ाते रहे।

इतना ही नहीं, एक दिन तो वे इतने उत्साहित हो गये कि - मुझ से बोले - पण्डितजी! इसे तो आप एक पुस्तकरूप में जल्दी छपाओ। मेरी भावना हो रही है कि मैं इस पुस्तक की हजार प्रतियाँ अपनी ओर से निःशुल्क वितरित करूँ।

फलस्वरूप यह पुस्तक तैयार हो गई। आशा है पाठक अन्य कृतियों की भाँति इसे भी अपनायेंगे।

- रतनचन्द भारिल्ल

आत्मकथ्य

हमने ऐसे क्या पाप किए,
जिसकारण मर-मर कर जिए;
आसुओं के घूँट पिये।
जन्तर-मन्तर गंडा; तावीज-
देवी देवताओं के पूजापाठ,
सुख पाने के लिए सब कुछ तो किए
पर, अबतक जो भी काम किए
वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए ॥ हमने ऐसे क्या. ॥

-- -- --

रागी-द्वेषी-अल्पज्ञ देवी-देवताओं को -
पूजकर, तुमने खोदे मौत के कुए;
टोना-टोटका जन्तर-मन्तर करके -
मिथ्या भाव ही पुष्ट किए;
अबतक इन्हें छोड़ा नहीं,
मिथ्यामार्ग से मुँह मोड़ा नहीं;
बस, इसी कारण फेल हुए,
फिर भी हमसे पूछते हो;
हमने ऐसे क्या पाप किए

-- -- --

सही समाधान पाने को
पढ़िए, “देवदर्शन क्यों ?”
“श्रावक के षट् आवश्यक क्या ?”
और पढ़िए “आध्यात्मिक पंचसकार”
“सर्वज्ञता और पुरुषार्थ”
इन्ही से प्राप्त होगा आत्मार्थ

अबतक ये कुछ नहीं किए
इसी कारण मर-मर कर जिए ॥ हमने ऐसे क्या. ॥

-- -- --
सन्मार्ग पर आने के लिए
और पढिए -
“समाधि-साधना और सिद्धि”
प्रगट होगी आत्मा की प्रसिद्धि
“धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है”
धर्म परम्परा नहीं, स्व-परीक्षित साधना है,
आत्मा की आराधना है ।
धर्म है जिन सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग
उसी से होता है स्वभावसन्मुख उपयोग
अबतक ये कुछ भी नहीं किए
इसी कारण
हम सुख पाने में असफल हुए ॥ हमने ऐसे क्या. ॥

-- -- --
प्रस्तुत हैं ये इक्कीस निबन्ध,
इनमें है सच्चा सुख पाने का प्रबन्ध
‘पर से सुख का नहीं कुछ भी सबन्ध’
अबतक यह जाना नहीं -
इसकारण हैं भव में भटके हुए
संसार के राग-रंग में अटके हुए
फिर भी बारम्बार वही होता है प्रश्न,
हम मर-मर कर क्यों जिए ?
हमने ऐसे क्या पाप किए ? ॥

- रतनचन्द भारिल्ल

कहाँ क्या?

१. ऐसे क्या पाप किए? (कहानी)	९
२. नित्य देवदर्शन क्यों?	१८
३. श्रावक के षट् आवश्यक	२७
४. पुण्य और धर्म में मौलिक अन्तर	४५
५. आध्यात्मिक पंच सकार : सुखी होने का सूत्र	५१
६. सर्वज्ञता क्रमबद्धपर्याय और पुरुषार्थ	५९
७. भक्तामर स्तोत्र : निष्काम भक्ति स्तोत्र	६९
८. जिनागम के आलोक में विश्व की कारण कार्य व्यवस्था	७९
९. समाधि-साधना और सिद्धि	८८
१०. पुरुषार्थसिद्धचुपाय और आचार्य अमृतचंद	१०६
११. धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है	११६
१२. भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान	१२२
१३. पंचकल्याणक : पाषाण से परमात्मा बनने की प्रक्रिया	१२७
१४. परिग्रह को पाप मानने वालों के पास अधिक परिग्रह क्यों?	१३३
१५. जैन साधु दिगम्बर क्यों होते हैं?	१३९
१६. भगवान महावीर के विश्वव्यापी संदेश	१४७
१७. समयसार : संक्षिप्त सार	१६०
१८. क्षत्रचूडामणि नीतियों और वैराग्य भावों से भरपूर कृति	१८०
१९. सोलहवीं सदी में एक क्रांतिकारी संत का उदय	२०६
२०. बीसवीं सदी का सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व	२१३
२१. जैन अध्यात्म के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवि : बनारसीदास	२२२
२२. मान से मुक्ति की ओर (कहानी)	२३२
२३. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानी)	२४२

लेखक के अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (दो संस्करण)	१० हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (दो संस्करण)	८ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर	५ हजार	१०.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि	२ हजार	४.००
सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -		
२२ से ३२. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
३३. सम्यग्दर्शन प्रवचन		१५.००
३४. भक्तामर प्रवचन		१२.००
३५. समाधिशतक प्रवचन		२०.००
३६. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)		३.००
३७. गागर में सागर (प्रवचन)		७.००
३८. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में		३.००
३९. गुणस्थान-विवेचन		१८.००
४०. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)		१०.००
४१. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)		११.००

१

ऐसे क्या पाप किये?

यद्यपि बात पैतालीस वर्ष पुरानी है; परन्तु ऐसा लगता है मानो कल की ही बात हो। हमारा एक पड़ोसी मित्र था उसका नाम था लक्ष्मीनन्दन। लक्ष्मीनन्दन पहले कभी वास्तविक लक्ष्मीनन्दन रहा होगा, अभी तो वह लक्ष्मीनन्दन नाम को सार्थक कर रहा था। प्रतिदिन लक्ष्मी की देवी को अग्रबत्ती लगाता; दीपक की ज्योति जलाता; पर हाथ कुछ नहीं लगता।

हमारा और उसका घर एक ही मकान के दो हिस्सों में बटा था। दोनों घरों के बीच एक पतली सी टीन की चद्दर का पार्टीसन था। इस कारण हम दोनों एक-दूसरे की किसी भी बात से अनभिज्ञ नहीं रह पाते थे; क्योंकि एक तो पार्टीशन ही ऐसा था जो उनकी या हमारी धीमी से धीमी ध्वनि को रोकने में समर्थ नहीं था। दूसरे, परस्पर एक दूसरे के दिल ऐसे मिल गये थे कि छोटी से छोटी बातें भी हमसे कहे बिना उसे चैन नहीं पड़ती थी। वह प्रतिदिन अपने दिल की और दुःखदर्द की बातें हमसे कहकर अपना जी हल्का कर लिया करता था।

यद्यपि वह स्वभाव से सज्जन था, धर्म के प्रति प्रेम भी था, नास्तिक नहीं था; पर उसे धर्म की समझ बिल्कुल नहीं थी। यद्यपि वह पत्नी आदि को प्रवचन सुनने एवं स्वाध्याय करने में बाधक नहीं बनता; पर स्वयं में प्रवचन सुनने व स्वाध्याय करने की रुचि बिल्कुल नहीं थी। अकेला कमानेवाला था और सात-सात व्यक्तियों के खर्च का बोझ था उसपर। धंधा भी हाट-बाजारों में जाकर धूप में खड़े रहकर हाथ ठेले पर दुकान लगाकर हल्दी, मिर्च/मसाले और अग्रबत्ती आदि जैसी छोटी-मोटी वस्तुएँ बेचने का था। पूँजी के अभाव में बिचारा और करता भी क्या?

जब कोई सहानुभूति में उसकी गरीबी की बात छेड़कर उसकी दुखती नस छू लेता तो उसे शूल सा चुभ जाता था और वह अपने स्वाभिमान

की रक्षा हेतु अपने पुराने दिनों को यादकर गर्व से कहने लगता, “यह तो दिनों का फेर है वर्ना हम भी किसी लखपती से कम नहीं थे।”

उसके कहे अनुसार – वह पहले बहुत सम्पन्न तो था ही, उसकी न केवल अपने गाँव में बल्कि आस-पास के अन्य गाँवों में भी अच्छी प्रतिष्ठा थी। परन्तु जब दुर्दिन आये, पुराना पुण्य क्षीण हुआ, अबतक पुण्य के फल में मस्त रहकर नया कुछ सत्कर्म नहीं किया तो चारों ओर से एक साथ विपत्तियों से तो घिरना ही था, सो घिर गया। जो अबतक सुख के साधन थे, वे ही दुःख दरिद्रता के कारण बन गये।

वह जिस गाँव में रहता था उस गाँव में उसकी खूब खेती थी, सारे गाँव में उसके बाप-दादा के जमाने से साहूकारी फैली थी। सब सुख के साधन सुलभ थे; किन्तु दुर्दिन आते ही वे कर्जदार ही विद्रोही हो गये और नकाब ओढ़कर डाकू बनकर लूटने-पीटने लगे। उन डाकू-लुटेरों के भय से भयाक्रान्त होकर सब कुछ छोड़कर रातोंरात शहर की ओर भागना पड़ा। तभी से उसके दुर्भाग्य का सिलसिला शुरू हो गया था।

एकमात्र जीवन का सहारा २२ वर्षीय बेटा तपेदिक से ग्रस्त हुआ और २४ वर्ष की उम्र में ही दिवंगत हो गया। उस पर एक दुःख का नया पहाड़ और टूट पड़ा। मानसिक तनाव और जरूरत से ज्यादा श्रम के कारण वह स्वयं बीमार रहने लगा, पत्नी भी बीमार और चिड़चिड़ी हो गई। उन दोनों में धार्मिक दृष्टि से परस्पर में वैचारिक मतभेद तो थे ही, एक दूसरे पर दोषारोपण करने से गृह कलह भी होने लगी। उनके मात्र एक बेटा और चार बेटियाँ थीं। बेटे के असमय में दिवंगत होने से वह बहुत निराश हो गया था। बेचारी चारों बेटियाँ इन सब परिस्थितियों के कारण दीन-दुःखी और भीगी बिल्ली की भाँति सहमी-सहमी रहती हुई समय बिता रही थीं।

चारों बेटियाँ क्रमशः १८ से २४ वर्ष की उम्र पार कर यौवन की ओर बढ़ रही थीं। लक्ष्मीनन्दन को उनके शादी-ब्याह का विकल्प सताने लगा था। उस समय उसकी समझ में यह नहीं आ सकता था कि ‘उनकी

चिन्ता की जरूरत उसे नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनका भी अपना-अपना भाग्य है। उनके भी पहले यहीं/कहीं उनके वर पैदा हो गये हैं, जो समय आने पर स्वयं माँगकर ले जायेंगे, बाद में हुआ भी यही। लड़कियाँ सुन्दर थीं, सुशील थीं, इस कारण लड़के वालों की ओर से स्वयं शादी के प्रस्ताव आ गये और सुयोग्य वरों द्वारा वे वरण कर ली गईं; परन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में वह तब तक निश्चिन्त नहीं हो सका था जब तक उनके विवाह नहीं हो गये।

अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ा कर वह देवी-देवताओं और मंत्र-तंत्रवादियों तथा ज्योतिषियों के चक्कर काटने लगा था। जो जैसा बताता तदनुसार गृहीत मिथ्यात्व के क्रिया-कलाप करने लगा। गरीबी में गीले आटे की कहावत उस पर चरितार्थ हुई। कमाई का बहुभाग देवी-देवताओं, मंत्र-तंत्रवादियों की भेंट पूजा-पत्री में चढ़ने लगा। उसकी गरीबी और बीमारी के कारण सहानुभूति दिखाने और सहयोग करने के बहाने चुस्त-चालाक लोग उन युवा लड़कियों से घंटों गप्पे लड़ाने आ बैठते और अपनी भावनाओं को कलुषित करते रहते। अड़ौसी-पड़ौसी बगलें झाँकते और उन पर हँसते तथा व्यंगबाण छोड़ते।

मैं संयोग से उनका सर्वाधिक निकट का पड़ौसी था और प्रवचनकार पण्डित भी। पड़ौसी का धर्म निभाने के नाते मैं उन्हें मंत्र-तंत्रवादी और उन आवारा लोगों पर लगाम लगाने की बहुत सोचता; परन्तु “मियाँ बीबी राजी तो क्या करे काजी” की परिस्थिति में मैं कुछ भी नहीं कर सकता था।

देवयोग से उनकी पत्नी मेरी धर्मसभा की दैनिक श्रोता थी। इस कारण उसे अपने पति की वे अज्ञानजनित मिथ्या क्रिया-कलाप बिल्कुल पसन्द नहीं थे। यदा-कदा दोनों ही अपना-अपना दुःखड़ा रोते मेरे पास आ जाते और लक्ष्मीनन्दन आँखों से आँसू टपकाता हुआ कहता – ‘पण्डितजी हमने पूर्वजन्म में ऐसे क्या पाप किए, जिनका यह फल हमें मिल रहा है?’

यद्यपि उन्होंने पत्नी को हमारे प्रवचन में आने से कभी नहीं रोका, बल्कि उसकी गैर हाजरी में उसका चाय-नास्ता बनाने का काम भी स्वयं कर लेता और पत्नी को प्रवचन में जाने देता; परन्तु वह स्वयं स्वाध्याय में कभी नहीं आया, इस कारण मेरा मन उसे समझाने का नहीं होता। मैं सोचता इन्हें तत्त्व का कुछ भी अता-पता नहीं है, ऐसे व्यक्ति को मैं क्या समझाऊँ ? एक दिन वे फूट-फूट कर रोने लगे और बोले - **आप दुनिया को समझाते हो। सबको दुख दूर करने का मार्गदर्शन देते हो, और आप स्वयं भी कितने सुखी हो; हमें भी कोई उपाय बताओ। कोई मंत्र-तंत्र हो, कोई गंडा-ताबीज हो आप जो भी उपाय बताओगे, हम सब करेंगे?**

मुझ से भी उनका दुःख देखा नहीं गया, मेरी आँखों में भी आँसू आ गये; पर मेरी समझ नहीं आ रहा था कि घंटे-आध घंटे में उसे क्या बताऊँ ? कैसे समझाऊँ ? कोई मंत्र-तंत्र और गंडा-ताबीज विद्या तो मुझे आती भी नहीं थी, बल्कि मैं तो उसे इस पाखण्ड से बचाना चाहता था।

अतः मैंने उससे कहा - **“भैया! तुमने पूर्व जन्म में क्या पाप किए? यह तो मैं नहीं जानता; पर इतना अवश्य जानता हूँ कि आप वर्तमान भी पापपंक में आकण्ठ निमग्न हो। जब तक इस दल-दल से नहीं निकलोगे तब तक दुःख दूर नहीं होगा।”**

वह आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखने लगा। **“क्या कहा? मैंने अपनी याददाश्त में तो ऐसा कोई पाप नहीं किया।”** ऐसा कहकर वह एक-एक क्रिया कलाप गिनाने लगा।

मैंने कहा - **“यह सच है कि तुमने किसी की हत्या नहीं की, किसी की झूठी गवाही नहीं दी, किसी का कभी एक पैसा भी नहीं चुराया, कभी किसी की माँ-बहिन बेटी को बुरी निगाह से नहीं देखा। कभी किसी का शोषण करके अनावश्यक धन का संग्रह नहीं किया। तुमने पाँचों पापों में एक भी पाप नहीं किया। बीच में ही बात काटकर वह बोला - “फिर आपने ऐसा कैसे कहा कि मैं पाप की कीचड़ में गले तक डूबा हूँ!”**

(7)

दिन-रात पाप-पंक में निमग्न लोगों को यह समझाना मेरे लिए भारी पड़ रहा था, कठिन हो रहा है कि मैं उन्हें कैसे बताऊँ कि वे कोई पाप भी कर रहे हैं; किन्तु करनी का फल ही तो जीवन में आता ही है अतः पाप तो उसने किया ही है, अन्यथा उसकी परिस्थिति क्यों बनती? ऐसे व्यक्तियों को यह विचार क्यों नहीं आता कि **“जब संकट के बादल सिर पर मंडरा रहे हैं, चारों ओर से विपत्तियाँ घेरे हैं, तरह-तरह की मुसीबतों में फँसे हैं, नाना प्रकार की बीमारियाँ शरीर में स्थाई निवास बना चुकीं हैं; तो ये सब पुण्य के फल तो हैं नहीं, कोई पाप ही किए होंगे, जिनको हम भूल गये हैं।”** और भगवान से पूछने लगे कि - **हे भगवान! हमने पिछले जन्म में ऐसे क्या पाप किये थे? जिनकी इतनी बड़ी सजा हमें मिल रही है।**

जगत के जीवों की कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति है कि वे पाप तो हंस-हंस कर करते हैं और उनका फल भुगतना नहीं चाहते। पुण्य कार्य करते नहीं हैं और फल पुण्य का चाहते हैं। वस्तुतः जीवों को पुण्य-पाप के परिणामों की पहचान ही नहीं है, पापबन्ध कैसे होता है, पुण्यबंध कैसे होता है, इसका पता ही नहीं है। वे बाहर में होती हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि को ही पाप समझते हैं, **आत्मा में हो रहे खोटे भावों को पाप ही नहीं मानते।** यही सबसे बड़ी भूल हैं, जिसे अज्ञानी नहीं जानता। इसी कारण दुःख के ही बादल मंडराते रहते हैं जब क्षणभर को भी तो शान्ति नहीं मिलती तो भगवान से पूछता है **भगवन्! यह कैसी विडम्बना है?**

लक्ष्मीनन्दन मन ही मन कहता है - **“लोग कहते हैं पुण्य करो, धर्म करो, सुख होगा मैंने जीवन भर अपने कर्तव्य का पालन कर पुण्य ही तो किया, पाप बिल्कुल भी नहीं किया, फिर भी……यह सब क्या चक्कर है? इसके सिवा और पुण्य क्या होता है? धर्म क्या होता है? कुछ समझ में नहीं आता। यद्यपि मैं रोज देवी की पूजा करता हूँ, घी के दीपक की ज्योत**

जलाता हूँ, वर्ष में एक दो बार तीर्थ कर आता हूँ फिर भी कुछ नहीं...। इससे मुझे ऐसा लगता है कि - मैं कहीं भूल में तो हूँ - अन्यथा यह दुःख क्यों?"

वस्तुस्थिति यह है कि अभी जीवों को पाप की भी सही पहचान नहीं है। हत्या, झूठ, चोरी, पराई माँ-बहिन-बेटी पर कुदृष्टि तो पाप है ही; परन्तु पाप-पुण्य का सम्बन्ध पर द्रव्यों से नहीं; बल्कि अपने परिणामों से होता है; अपने मिथ्या अभिप्राय से होता है, इसकी उसे खबर नहीं है।

जगत में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है, भला-बुरा नहीं है, फिर भी उसे भला-बुरा मानना। तथा इष्ट-अनिष्ट मानकर उसमें राग-द्वेष करना। ऐसे मिथ्या अभिप्राय से दिन-रात आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूप पाप परिणामों में डूबे इस व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि इष्टवियोगज एवं अनिष्ट संयोगज तथा पीड़ा चिन्तन रूप आर्तध्यान और पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आनन्द मानना उनके संग्रह में सुख होना मानना रौद्रध्यान है और यह भी पाप है। जबकि वास्तविकता यह है कि भले ही जीवन भर इसके द्वारा एक भी प्राणी का घात न हुआ हो, एक भी शब्द असत्य न बोला हो, इसी तरह चोरी, कुशील व बाह्य परिग्रह में किंचित भी प्रवृत्ति न हुई हो परन्तु देवी-देवताओं की उपासना रूप गृहीत मिथ्यात्व के साथ उक्त मिथ्या मान्यता से इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, पीड़ा-चिन्तन रूप आर्तध्यान करता रहे, विषयानन्दी रौद्रध्यान करता रहे तो ये सब पाप ही हैं। इसीतरह अपने परिवार के प्रति प्रीति करता हुआ उसमें आनन्द मनाये, तो ये भी हिंसानंदी और परिग्रहानंदी रौद्रध्यान हैं जो पूर्णतः पाप परिणाम हैं, ये परिणाम ही दुःख के कारण हैं।

पुण्य के उदय में हर्ष मानना, पाप के उदय में खेद खिन्न होना, शरीर की संभाल में लगे रहना, देह की वृद्धि में प्रसन्नता और देह की क्षीणता में अप्रसन्नता! भला इन्हें कौन पाप गिनता है? परन्तु पण्डित बनारसीदास ने इन्हें ही सप्त व्यसन जैसे महापाप में गिनाया है -

अशुभ में हार शुभ में जीत यही है द्यूतकर्म,
देह की मगनताई यहै माँस भखिबो।
मोह की गहल सों अजान यहैं सुरापान,
कुमति की रीति गणिका को रस चखिबो ॥
निर्दय है प्राण घात करबो यहै शिकार,
पर-नारि संग पर-बुद्धि को परखिबो।
प्यार सों पराई सौँज गहिबे की चाह चोरी,
ऐ ही सातों व्यसन विडारि ब्रह्म लखिबो ॥

जो मिथ्या मान्यता के कारण अशुभ उदय आने पर प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी हार मानता है तथा शुभोदय में अनुकूल स्थिति में अपनी जीत मानता है; वह एक तरह से जुआरी ही है; जो हर्ष-विषाद रूप परिणाम जुआ की जीत-हार में होते हैं, वैसे ही हर्ष-विषाद के परिणाम जिसने पुण्य-पाप के उदय में किए तो फल तो परिणामों का ही मिलता है न? इस कारण जुआ में हर्ष-विषाद और पुण्य-पाप के उदय से हुए हर्ष-विषाद में कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह मांसल देह में एकत्व व ममत्वबुद्धि से एवं सुख की मान्यता से उसमें मग्न होना भी माँस खाने जैसा व्यसन ही है?

शराब पीकर मूर्च्छित हुआ या मोह में मूर्च्छित - दोनों में कोई अन्तर नहीं है, मूर्च्छा तो दोनों में हुई न! अतः मोही जीव का मोह भी एक प्रकार से शराब पीने जैसा व्यसन ही है।

ये कुबुद्धि या व्यभिचारणी बुद्धि वैश्या व्यसन जैसा है। निर्दय होकर किसी भी प्राणी की हिंसा में प्रवृत्ति शिकार व्यसन है तथा दूसरों की बुद्धि की परख करने को परस्त्री सेवन व्यसन कहा है। दूसरों की वस्तु रागवश ग्रहण करना चोरी व्यसन है। कवि का कहना है कि इन सात व्यसनों में सुख की मान्यता के त्यागपूर्वक आत्मा को जाना/पहचाना जा सकता है।

इसी प्रकार पुत्र-पुत्रियों से प्रीति करना, उनमें ममत्व रखना, उनके वियोग में दुःखी होना, देह में एकत्व रखना उसके ही संभालने में रत

रहना, शरीर में रोगादि होने पर दुःखी होना, शारीरिक पीड़ा होने पर व्याकुल हो उठना इसमें भी पाप है, ऐसा बहुत ही कम लोग जानते हैं, जबकि ये आर्तध्यान रूप पाप परिणाम है। पंचेन्द्रिय के भोगों में सुख बुद्धि होना, उन्हें जुटाने की कामना में लगे रहना भी कोई पाप है, यह बात भी लोगों की समझ के बाहर ही है। अन्यथा हिंसादिक की तरह इसे क्यों नहीं छोड़ देते? तथा आत्मा में रागादिक की उत्पत्ति ही हिंसा है, इस हिंसारूप पाप परिणामों की पहचान हमें नहीं है, बस ये ही कुछ ऐसे कारण हैं कि जिनके कारण हम दिन-रात पाप करते हुए भी स्वयं को पापी नहीं मान पाते और जब इन पापों का परिणाम (फल) जीवन में आता है तब आश्चर्य होता है कि “अरे! मैंने ऐसे क्या पाप किए?”

आश्चर्य इसका नहीं होना चाहिये कि कौन से पाप किये, बल्कि आश्चर्य तो यह है कि मिथ्यामान्यतावश दिन-रात पाप भाव में रहते हुए ऐसा महान पुण्य कब बाँध लिया, जिससे यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनधर्म की शरण और धर्म के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर लिया? यह अनुकूलता निश्चय ही कोई महान् पुण्य का फल है, यह मौका अनन्त/असंख्य प्राणियों में किसी एकाध को ही मिलता है जिसे हम प्राप्त करके प्रमाद में खो रहे हैं। यदि यह अवसर चूक गये तो ...

“यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी।

इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥”

एक दिन मौका पाकर मैंने उसे यह सब समझने के लिए प्रेरित किया और प्रवचन में पहुँचने की सलाह दी तो सौभाग्य से उसने मेरी बात मान ली और प्रवचन में आना प्रारंभ किया। धीरे-धीरे उसे भी रुचि लग गई। एक दिन प्रवचन में निकला -

“यह एक नियम है कि ध्यान के बिना कोई भी संसारी जीव नहीं है। कोई न कोई ध्यान प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। यदि व्यक्ति का अभिप्राय, मान्यता सही नहीं है तो उसे आर्त-रौद्रध्यान ही होते हैं, क्योंकि धर्मध्यान तो मिथ्या मान्यता में होता ही नहीं है। धर्मध्यान तो सम्यक्दृष्टि जीवों के

ही होता है। सामान्य जीवों के मिथ्यात्व की भूमिका में तो निरन्तर आर्त व रौद्रध्यान ही होते हैं इनमें रौद्रध्यान जो कि पापों में आनंद मानने रूप होता है, सदा अशुभ या पाप रूप ही होता है। आर्तध्यान दुःख शोक रूप होता है, इसमें शुभ-अशुभ का भेद पड़ता है इसमें अज्ञानियों के तो अधिकतर पाप रूप परिणाम ही रहते हैं, अतः भले ही प्रगट रूप में पाप न किये हों फिर भी अभिप्राय (मान्यता) में तो निरन्तर पाप रूप ही परिणाम रहते हैं, उन्हीं में कर्मों की स्थिति व अनुभाग (फल देने की शक्ति) अधिक पड़ती है। तदनुसार जीवन में दुःख आना स्वाभाविक ही है। करणानुयोग शास्त्रानुसार जितना बीच-बीच में शुभभाव होता है उतनी राहत तो असाध्य रोगों व दुःखों के बीच में भी मिल ही जाती है, पर उस सागर जैसे दुःख में इस बूँद जैसे सांसारिक सुख का क्या मूल्य? इससे किसी प्रकार भी संसार के दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में इस जीव को सुखी होना हो तो पुण्य पाप परिणामों की पहचान के लिए जिनवाणी का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। पण्डित भागचन्दजी ठीक कहते हैं -

अपने परिणामनि की संभाल में, तातें गाफिल मत हो प्राणी।

यहाँ ‘गाफिल’ शब्द के दो अर्थ हैं एक तो सीधा-सादा यह कि परिणामों की संभाल में सावधान रहो, अपने शुभाशुभ परिणामों को पहचानों और अशुभ भावों से बचो। दूसरा अर्थ है कि शुभाशुभ परिणामों में ही गाफिल (मग्न) मत रहो, अपने परिणामी द्रव्य को पहचानों तभी परिणाम हमारे स्वभाव सन्मुख होंगे।”

यह प्रवचन सुनते ही लक्ष्मीनन्दन को उसके प्रश्न का उत्तर तो मिल ही गया। साथ ही सन्मार्ग में अग्रसर होने की रुचि भी जागृत हो गई और वह पत्नी के साथ प्रतिदिन प्रवचन सुनने आने लगा। ॐ नमः।

- पाठक प्रस्तुत कथानायक को अपने अन्तरंग में ही खोजें, आजू-बाजू में न झाँकें।
- परिणामों की विशेष पहचान हेतु ‘इन भावों का फल क्या होगा’ पुस्तक पढ़ें।

२

नित्य देव दर्शन क्यों?

आज का अधिकांश पढ़ा-लिखा वर्ग भौतिकवादी व भोगवादी होता जा रहा है। भौतिकवाद व भोगवाद में ही उसे सभ्यता व आधुनिकता दिखाई देती है। सवेरे उठने के पहले बिना मुँह धोये उन्हें बेड-टी (बिस्तर पर ही चाय) चाहिए और बिना स्नान किए हेवी-नास्ता। फिर टी.वी., न्यूजपेपर्स, यदि समय हुआ तो मेगजीन्स (पत्र-पत्रिकायें व उपन्यास) यही सब उनका स्वाध्याय है। शेविंग, स्नानादि नित्य कर्मों में भले ही घंटों बितादें; परन्तु बाथरूम से निकलकर सीधे किचिन (रसोईघर) में ही जा विराजेंगे, मानो मंदिर से तो उन्हें कोई सरोकार ही नहीं है। देवदर्शन नाम की चीज तो इनकी दैनिकचर्या में शामिल ही नहीं है।

काश! किसी आगन्तुक या मेहमान ने इस कारण दूध-नास्ता नहीं लिया कि वह देव-दर्शन के बिना कुछ भी नहीं लेता तो बेचारा वह व्यक्ति उन आधुनिक, सभ्य महाशय की नजरों में एकदम बेकवर्ड (पुरातन पन्थी) असभ्य किंवा मूर्ख नजर आता है।

क्या करें ऐसी सभ्यता का? क्या कहें उन फारवर्ड (आधुनिक) लोगों से? कैसे समझायें उन पढ़े-लिखे समझदारों को? जो स्वयं को समझदार, पढ़ा-लिखा, सभ्य व आधुनिक मान बैठे हैं। और इस सभ्यता व आधुनिकता की आड़ में भूल बैठे हैं उन महान आदर्शों को, जिनके दर्शनों से, जिनके स्मरण से अथवा जिनकी प्रेरणा से पापी जीव पुण्यात्मा बन जाते हैं, पतित-आत्मा पावन बन जाते हैं, पामर प्राणी परमात्मा तक बन जाते हैं। वे हमारे आदर्श हैं सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं सच्चे गुरु।

ये आधुनिक लोग निरे नास्तिक नहीं हैं, कभी-कभी त्योहारों उत्सवों अथवा धार्मिक पर्वों में ये “शौकिया” मन्दिर जाते हैं और जब कभी इन्हें

कोई मुसीबत आ घेरती है या फिर किसी वस्तु विशेष के आकांक्षी होते हैं, तब ये लोग ‘भगवान’ को अवश्य याद करते हैं, ऐसे समय इन्हें-संकट मोचक ‘भक्तामर पाठ’ आदि भी याद आते हैं। तब ये तीर्थ यात्रायें करते, मनोतियाँ मनाते, घी के दीपक चढ़ाते, अपने संकट मोचक प्रभु को मनाने के लिए जो भी कर सकते हैं, सब करने को तत्पर रहते हैं। परन्तु उन्हें नहीं मालूम कि कामना सहित स्वार्थ को लेकर किये गये धार्मिक कार्य कोई अर्थ नहीं रखते। ऐसा करने से देव-दर्शन, अर्चन व पूजन आदि का उद्देश्य भी पूरा नहीं होता है; क्योंकि वीतरागी भगवान उनके इन कार्यों से प्रसन्न होकर उनका दुःख दूर नहीं करते, भक्तों का दुःख दूर करें - ऐसा उनका स्वभाव ही नहीं है।

जहाँ एक ओर पढ़े-लिखों की यह स्थिति है, वहीं दूसरी ओर रूढ़िवाद के हामी कुछ लोग देव-दर्शन की प्रतिज्ञा लेकर मात्र उस प्रतिज्ञा के निर्वाह करने में जान तक लगा देते हैं; क्योंकि प्रतिज्ञा लेने वालों की भी शास्त्रों में खूब प्रशंसा की है, परन्तु वह प्रशंसा-प्रतिज्ञा न लेने वालों की अपेक्षा से की गई है। इससे अधिक उस प्रशंसा का और कुछ अर्थ नहीं है।

जिस प्रकार सुन्दर, स्वादिष्ट एवं पौष्टिक आहार के दर्शन मात्र से पेट नहीं भरता, क्षुधा शान्त नहीं होती, ठीक उसी प्रकार मात्र देव-दर्शन की प्रतिज्ञा के निर्वाह से सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती। हाँ इतना अवश्य है कि जिस तरह आहार के देखने से, उधर उपयोग जाने से भूख बढ़ जाती है, खाने की इच्छा जागृत हो जाती है, उसी प्रकार देव-दर्शन से देव जैसा ही बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। तथा जैसे सुन्दर खिलौने को देखकर बालक का मन मचल उठता है, वैसे ही देव की परम शान्त-मुद्रा को देखकर दर्शक का मन शान्त रहना चाहता है। अतः प्रथम भूमिका में जब तक विशेष समझ प्राप्त नहीं भी हुई हो तब भी देव-दर्शन की प्रतिज्ञा लेना आवश्यक तो है ही, अनिवार्य भी है। निरर्थक नहीं है।

इसी दृष्टिकोण को लेकर शास्त्रों में प्रतिज्ञा निर्वाह का भी महत्व दर्शाया गया है। परन्तु जो मात्र प्रतिज्ञा निर्वाह में ही अटक जाते हैं, उसका इन्हें अबतक क्या लाभ हुआ, इस दिशा में किये गये अपने श्रम के फल पर विचार नहीं करते, उनकी उस कोरी प्रतिज्ञा निर्वाह का श्रम निरर्थक है - ऐसा भी जहाँ तहाँ शास्त्रों में उल्लेख है।

आज के पढ़े-लिखे वर्ग में देव-दर्शन के प्रति उत्साह-हीनता का एक जबरदस्त कारण यह भी है कि जो पुरातन पन्थी, रूढ़िवादी, इने-गिने लोग जीवन भर प्रतिज्ञाओं का निर्वाह करते रहते हैं; फिर भी वही कषायें, वैसी ही बेईमानी, वही अशान्ति उनके जीवन में दिखाई देती है अतः लोगों को निराशा होती है, उन्हें कहने का अवसर मिलता है कि “जो देव दर्शन या पूजन-पाठ करते हैं उन्होंने क्या पा लिया? हममें उनमें क्या अन्तर है?”

इस प्रकार ये रूढ़िवादी भी यथार्थ में अपने आदर्शों को भूले हुए ही हैं। वे आदर्श क्या हैं? कौन से है? हम उन जैसे कैसे बन सकते हैं? ये सब विचारणीय प्रश्न हैं चिन्तन के विषय हैं।

‘देव’ शब्द यहाँ एक विशिष्ट अर्थ में लिया गया है, “जो वीतरागी व सर्वज्ञ हों वे देव हैं।” अरहंत व सिद्ध परमात्मा पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हैं, अतः वे ही हमारे परमोत्कृष्ट आराध्य देव हैं। आचार्य उपाध्याय और साधु यद्यपि पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ नहीं हैं; परन्तु वे वीतरागता व सर्वज्ञता के सच्चे उपासक हैं, उन्होंने आंशिक वीतरागता भी प्रगट कर ली है, तथा सम्यक्ज्ञानी हैं, अतः इन्हें भी उपचार से देव संज्ञा प्राप्त है, ये भी पूज्य व वंदनीय हैं। इस प्रकार जिनागम में पंच परमेष्ठी को ही ‘देव’ माना गया है।

नव देवताओं के नाम भी शास्त्रों में आते हैं। “नव देव” पूजन भी प्रचलित हैं, परन्तु वे “नव देवता” कोई अन्य नहीं है, उपर्युक्त पंच परमेष्ठी और इन्हीं से संबंधित जिन चैत्य (प्रतिमा), जिन चैत्यालय (जिन मन्दिर), जिनवाणी (शास्त्र) एवं जिनधर्म - ये नवदेव हैं। नवग्रह पूजन

में जो शनि आदि नवग्रह आते हैं, वे कोई नवदेव नहीं हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार इन ग्रहों का निमित्त पाकर जो कोई विघ्न बाधा उपस्थित देखी जाती है, वे विघ्न-बाधायें परमात्मा रूप पंच परमेष्ठी की आराधना से स्वयमेव दूर हो जाती है, ऐसा पूजा का अभिप्राय है यहाँ लौकिक ज्योतिषी नवग्रहों में ‘वीतरागी सच्चे देव’ का भ्रम नहीं पालना चाहिए।

पंच परमेष्ठी के दर्शन-स्मरण से इन नवग्रहों की विघ्नबाधा दूर करने की कामना करना ठीक नहीं है, अरे! जिस परमात्मा के स्मरण से सर्व पापों से मुक्त हो जाते हैं, भक्त का अंतरंग-बहिरंग सब पवित्र हो जाता है, विषय कषायों से अरुचि होकर निज आत्मा में रुचि उत्पन्न हो जाती है, आत्मा में परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। क्या उससे लौकिक विघ्न-बाधायें दूर नहीं होंगी, अवश्य होगी परन्तु ज्ञानी भक्त लौकिक कामनाओं की इच्छा करता ही कब है?

हम जिन-दर्शन, पूजन, भक्ति की महिमा परक स्तुतियाँ प्रतिदिन पढ़ते हैं, परन्तु हमें पता नहीं हम क्या-क्या पढ़ जाते हैं? उनका क्या अर्थ है? यदि हम उनके अर्थ पर, अभिप्राय पर ध्यान दें तो जिनदर्शन की महिमा से महिमावंत हुए बिना नहीं रह सकेंगे। दर्शन पाठ ही देखिये -

“दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनं।

दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनं ॥”

अर्थात् देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन सर्व पापों के नाश करने वाले हैं, देव दर्शन स्वर्ग की सीढ़ी है, और तो क्या देवदर्शन साक्षात् मोक्ष का साधन है। और भी -

“विघ्नौघा प्रलयं यान्ति, स्तूयमाने जिनेश्वरे”

अर्थात् जिनेश्वर परमात्मा के स्तवन करने से सम्पूर्ण विघ्न समूह का नाश होता है।

कविवर दौलतरामजी तो लिखते हैं - ‘जय परम शान्त मुद्रा समेत भविजन को निज अनुभूति हेतु’ अर्थात् वीतरागी भगवान की परम शान्त

मुद्रा भव्य जीवों के लिए आत्मानुभूति में निमित्त होती है। एक पद में भी पं. जी ने जिन दर्शन की यथार्थ महिमा दर्शाई है -

“निरखत जिन चन्द्र वदन स्वपद सुरुचि आई प्रगटी निज आन की पिछान, ज्ञान भान को उदोत होत मोह यामनी पलाई।।निरखत.।।”

हे भगवन! आपके मुखरूपी चन्द्र के निरखते ही मुझे अपनी रुचि उत्पन्न हो गई, अपने पराये का भेदज्ञान उत्पन्न हो गया, ज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो गया तथा मोहरूपी अंधकारमयी रात्रि नष्ट हो गई। ऐसे एक नहीं अनेक ज्ञानियों ने अपने अंतरंग में दर्शन की फलानुभूति करके अपने उद्गार प्रस्फुटित किये हैं.... देखिये सोलह कारण पूजा की जयमाला -

“जो अरहंत भक्ति मन आने, सो जन विषय कषाय न जाने”

अर्थात् जो अरहंत की भक्ति को मन में धारण करेगा उसके मन में विषय कषायों की उत्पत्ति ही नहीं होगी। परन्तु आज तक हमने सच्चे देव के स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि हम अनादि से अपने स्वरूप को भूले हुए हैं। जिन दर्शन का फल निज दर्शन है।

प्रथमानुयोग शास्त्र में एक कथा आती है - एक गढ़रिया था, जो जंगल से एक शेर के बच्चे को पकड़ लाया और वह शेर का बच्चा गढ़रिया की भेड़-बकरियों के साथ रहता हुआ अपनी शक्ति व स्वभाव को भूल गया, वह स्वयं को भेड़ की ही जाति का समझता। एकबार प्यास से व्याकुल वह शेर का बच्चा सरोवर के किनारे पहुँचा। वहाँ शांत, स्थिर व निर्मल जल में जब उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा तो वह आश्चर्य में पड़ गया। वह अपने सब साथियों से भिन्न था, इतने में ही पहाड़ी पर से एक सिंहनी ने उसे देखा, अपनी जाति के बालक को भेड़ों में देखकर उसने गर्जना की, शेरनी की गर्जना को सुनकर सिंह बालक ने जब उधर देखा और अनुभव किया कि मैं तो उसकी जाति का हूँ, अरे, मैं यहाँ कहाँ फँसा हूँ! बस, फिर क्या था? अन्दर का सिंहत्व जागा, और वह एक क्षण में छलांग लगाकर अपनी जाति में जा मिला।

काश! हम भी उस शेर के बच्चे की तरह अरहंत परमात्मा के स्वरूप को देखकर, पहचान कर, उनकी दिव्य ध्वनि की गर्जना सुनकर अपनी भूली हुई शक्ति को पहचान लें तो एक क्षण में परमात्मा की (अपनी ही) जाति में शामिल हो सकते हैं।

जिन प्रतिमा के स्वरूप का सार्थक शब्द चित्र प्रस्तुत करते हुए कविवर भूधरदासजी कहते हैं -

करनो कछु न करतैं^१ कारज, तातैं पाणि^२ प्रलम्ब^३ करे हैं।

रहयो न कछु पायन तैं पैवो,^४ ताही तैं पद नाहिं टरै हैं।।

निरख चुके नैननि सब यातैं, नेत्र नासिका अनी^५ धरै हैं।

कहा सुनै कानन^६ यों कानन,^७ जोगलीन जिनराज भये हैं।।

उपर्युक्त छन्द में वीतरागविज्ञान मयी ध्यानमग्न, निश्चल, वीतरागभाव वाही, परमशान्त मुद्रा का सुन्दर साकार शब्दांकन होने से पाठक जिनदर्शन की महिमा से भी महिमावंत हुए बिना नहीं रहता।

छन्द में कहा गया है कि - जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के हाथ जो प्रलम्बित हैं, वे इस बात के प्रतीक हैं कि - स्वतः परिणमित परद्रव्यों में इन हाथों से कुछ करना ही नहीं है। अज्ञानवश अब तक जो पर में कर्तृत्व स्थापित कर रखा था वह बात यथार्थ नहीं है।

“सत्ता में आने पर मैं दुनियां का नक्शा बदल दूँगा” आदि मान्यता महाअज्ञान है - ऐसा विचारकर ही मानों जिनराज दोनों हाथ लटकाकर खड़े हैं और जगत को अपनी अचल खड़े आसन द्वारा मौन उपदेश दे रहे हैं कि यदि तुम्हें सुखी होना हो परमात्म दशा प्रगट करना हो, पुनः संसार में ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण नहीं करना हो, संसार दुःखरूप लगा हो तो हमारी तरह तुम भी हाथ डाल दो या हाथ पर हाथ रख कर बैठ

१. हाथों से

२. हाथ

३. लटकाना

४. चलना

५. नासाग्र

६. कर्ण इन्द्रिय

७. वन

जाओ अर्थात् पर में कर्तृत्व का अहंकार करना छोड़ दो। “मैं पर का कुछ भला-बुरा कर सकता हूँ।” - यह मान्यता तज दो।

इसीप्रकार - इन पैरों से भी सुख की तलाश से खूब भटका।

चारों ओर सुख शान्ति की तलाश में खूब भाग-दौड़ की, किन्तु कहीं भी सुख हाथ नहीं आया और जब अन्तर में झाँककर देखा तो “अनन्त सुख शान्ति का सागर तो आप ही है” इसे पाने के लिए कहीं जाना नहीं है, कहीं से आना नहीं है - ऐसा विचारकर ही मानों भगवान जिनराज अचल हो गये हैं, चलना-फिरना छोड़ दिया है।

निश्चल भाव से अचलवत् स्थिर आपके चरण युगल इस बात को दर्शाते हैं कि दौड़ धूप करना व्यर्थ है। पावों से भाग दौड़ द्वारा कहीं कुछ प्राप्त करने लायक है ही नहीं। आत्मा तो स्वयं अपने में ही परिपूर्ण है - इसी बात का सन्देश देने के लिए ही मानो जिनराज अचल हो गये हैं।

तथा नेत्रों को नासाग्र इसलिए किया है कि अब अतीन्द्रियज्ञान एवं आनन्द की उपलब्धि हो गई है। अब इन इन्द्रियों का क्या काम? दूसरी बात यह भी तो है कि ये नेत्र (चर्मचक्षु) जड़ पुद्गल को ही तो जानते हैं, जान सकते हैं। मैं तो अरस, अरूपी, अमूर्तिक महा पदार्थ हूँ - जो नेत्रों द्वारा गम्य नहीं है, एतदर्थ अब इन नेत्रों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। और कानों से भी क्या सुनना बाकी रहा, अतः कर्णेन्द्रिय का भी अवलम्बन तोड़कर जिनराज आत्म साधना हेतु ध्यानस्थ हो गये हैं।

जिनेन्द्र दर्शन करते हुए आत्मार्थीजन इसप्रकार चिन्तन करते हुए देव दर्शन करें तो ही जिनदर्शन का यथार्थ लाभ हो सकता है।

देव दर्शन के संदर्भ ‘देव’ शब्द से मुख्यतया पंचपरमेष्ठी का ग्रहण किया गया है यद्यपि इस क्षेत्र व काल में अरहंत परमात्मा के साक्षात् दर्शन का सुयोग नहीं है, तथापि उनकी आदर्श रूप जिन प्रतिमा के दर्शन का सुयोग तो है ही। उनकी आदर्श रूप जिन प्रतिमा का लाभ भी साक्षात् अरहन्तवत् ही है, कहा भी है :-

“जिन प्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागम मांहि।” - बनारसीदास दूसरी बात यह भी तो है कि समवसरण में अरहंत के साक्षात् दर्शन करने वाले भी तो इन चर्म चक्षुओं से परमौदारिक शरीर को ही तो देखते हैं। उनकी आत्मा का तो वहाँ भी दर्शन संभव नहीं है। मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान करने वाले नेत्र अमूर्तिक आत्मा को कैसे देख सकते हैं?

हाँ, अरहंत परमात्मा की परम शान्त मुद्रायुक्त जिन प्रतिमा ही भव्य जीवों के लिए आत्मानुभूति में निमित्त कारण हो सकती है अतएव हमें नियमित देव-दर्शन करना आवश्यक है।

यहाँ ‘दर्शन’ शब्द का अर्थ भी मात्र देखना या सामान्यावलोकन नहीं है। इस देव-दर्शन के प्रकरण में दर्शन शब्द भी अपने एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन शब्द में स्तुति, वंदना, अर्चन एवं मनन-चिन्तन आदि गर्भित हैं। मात्र मूर्ति का अवलोकन कर लेने से देव-दर्शन की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो जाती। मूर्ति तो मात्र निमित्त है, मूर्ति के माध्यम से परमात्मा के गुणों का स्मरण करके अपने निजस्वरूप को पहचानना, आत्मावलोकन करना देव-दर्शन का मुख्य प्रयोजन है।

जब तक अपना उपयोग स्व-सन्मुख न हो, तब तक साधक जीव नाना प्रकार के आलम्बनों द्वारा अपने उपयोग को विषय-कषाय से बचने के लिए जो भी पूजन-पाठादि के प्रयत्न करता है वे सब देवदर्शन के ही रूपान्तर हैं। वे विविध आलम्बन निम्नलिखित हो सकते हैं -

धवल मंगल गानों से गुंजायमान भव्य जिनालय, परमशान्त मुद्रा से युक्त जिन प्रतिमा, भक्तिमय गीत-संगीत, स्तुति पाठ, पूजन सामग्री से भरे थाल तथा झाँझ-मजीरा आदि वाद्ययन्त्रों द्वारा पूजा-पाठ करना।

इस तरह हम देखते हैं कि देव-दर्शन का पेटा बहुत बड़ा है। देव-दर्शन की जो अपार महिमा शास्त्रों में गाई गई है, क्या वह मात्र मूर्ति अवलोकन की है? देवदर्शन का मूल उद्देश्य तो विषय-कषाय से बचना और आत्मानुभूति प्राप्त करना है। मूर्ति का अवलोकन तो प्रतिदिन

सभी करते हैं। परन्तु आत्मानुभूति बिना दुख दूर नहीं हुआ। कवि ने ठीक ही कहा है - “जिनदर्शन कछु और है, यह जिनदर्शन नाहिं।”

जिसप्रकार दवाखाने तक जाकर आ जाने से, डॉक्टर को झुककर नमस्कार कर लेने से रोग नहीं मिट जाता, बल्कि डॉक्टर जो कुछ कहे उस पर अमल करने से ही रोग मिटता है, उसी प्रकार मन्दिर में जाने से मूर्ति के समक्ष झुककर नमन करने से काम नहीं चलेगा, परन्तु मूर्तिमान अरहंत परमात्मा की परमशान्त मुद्रा के दर्शन का निमित्त पाकर “मैं भी ऐसा ही निर्विकारी, परम शान्त स्वरूप शुद्ध आत्मा हूँ” ऐसा विचार कर निजानुभूति करें तभी जन्म-मरण का रोग मिट सकता है। इसके लिए प्रथम भूमिका में आत्मानुभवी, ज्ञानी आत्माओं द्वारा लिखे गये मंगलमय स्तोत्रों, पूजा-पाठों का रहस्य समझने का प्रयत्न करना होगा। क्योंकि सच्ची समझ बिना यथार्थ भक्ति भी नहीं हो सकती है। ज्ञानी जीव को आत्मा-परमात्मा के गुणों की पहिचान होने से गुणों में सहज अनुराग हो जाता है और “गुणेषु अनुरागः भक्ति” अर्थात् गुणों में अनुराग होना ही भक्ति है। ऐसी भक्ति मुक्ति के पथिक साधक जीवों के मन में सहज ही हुआ करती है। यद्यपि भक्ति का भाव शुभ भाव है, तथापि भूमिका के अनुसार जब तक शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह पाते तब तक तीव्र राग ज्वर से बचने के लिए और कुस्थान में राग के निषेध के लिए अर्थात् अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी जीव बुद्धिपूर्वक भी देव-शास्त्र-गुरु का आलंबन लेते हैं, दर्शन-पूजन में अपने उपयोग को रमाते हैं, परन्तु ज्ञानियों की इन क्रियाओं को देखकर भोले जीवों ने तो केवल दर्शन-पूजन करने में ही धर्म मान लिया है और दर्शन पूजन के नियम का निर्वाह करते रहते हैं। उसके यथार्थ स्वरूप पर ध्यान नहीं देते इसी कारण उन्हें देव-दर्शन के यथार्थ फल की प्राप्ति नहीं हो पाती। ॐ नमः।



३

श्रावक के षट् आवश्यक

श्रावक :- श्रद्धावान, विवेकवान एवं विषयों से विरक्तचित्त गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। ये श्रावक तीन प्रकार के होते हैं - १. पाक्षिक, २. नैष्ठिक, ३. साधक। जिनधर्म का पक्ष मात्र करनेवाला **पाक्षिक श्रावक** है। प्रतिमाधारी **नैष्ठिक श्रावक** है, इसमें वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर ११ श्रेणियाँ होती हैं। जो श्रावक प्रसन्नचित्त से जीवन के अन्त में मन-वचन-काय को एकाग्र करके अन्तर्मुखी उपयोग द्वारा आत्मचिन्तन और परमात्मा का स्मरण करते हुए साम्यभाव धारण करता है, वह **साधक श्रावक** है। ऐसे समाधि के साधक जीवों का जीवन तो सुखी होता ही है, मरण भी समाधिमरणपूर्वक होता है।

आवश्यक :- जिस तरह शारीरिक शुद्धि के लिए मल-मूत्र क्षेपण, स्नान, दन्तधोवन और आँख-नाक-कान-कंठ आदि अंगों की सफाई हेतु शारीरिक षट् क्रियायें आवश्यक हैं, उसीप्रकार आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि विकार के शोधन के लिए देवपूजा, गुरुपासना आदि धार्मिक षट् आवश्यक क्रियायें भी अति आवश्यक हैं। एतदर्थ यहाँ उन्हीं षट् आवश्यकों का स्वरूप एवं उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

विविध शास्त्रों में षट् आवश्यकों की विविध प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं, जिनका तात्पर्य मात्र एक अपने उपयोग को विषय कषाय एवं राग-द्वेष से मुक्त रखना है।

मूलाचार ग्रन्थ में लिखा है “जो राग-द्वेषादि कषाय के वशीभूत नहीं है वह ‘अवश’ है। उस अवश का जो आचरण है वह आवश्यक है।”^१

इसी प्रकार नियमसार गाथा ४७ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं
“तू आवश्यक को चाहता है तो तू आत्मस्वभाव में थिर भावकर।”^१

आवश्यक शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ हैं - ‘आवासयन्ति
रत्नत्रयमपि इति आवश्यक’ अर्थात् जो आत्मा में रत्नत्रय का वास
कराते हैं उनको आवश्यक कहते हैं। वे आवश्यक छह हैं -

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायःसंयमस्तपः।

दानंचेति गृहस्थाणां षट्-कर्माणि दिने-दिने ॥^२

अन्य ग्रंथों में भी श्रावकों के २,४,५ व ७ कर्तव्यों का उल्लेख है;
परन्तु उन सबमें दान और पूजा की ही प्रमुखता है। जैसे कि ‘रयणसार’ में
आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं - ‘दानं पूजा मुख् सावय धम्मो ण
तेण बिना’ अर्थात् श्रावक धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं इनके बिना
श्रावक धर्म ही सम्भव नहीं है। कषायपाहुड़ शास्त्र में लिखा है - “दाणं
पूजा-शीलमुब्बासो चेदि चउव्विहो सावय धम्मो” अर्थात् दान-
पूजा शील और उपवास यह चार प्रकार का श्रावक धर्म है। कुरल काव्य
में लिखा है - गृहस्थ के पाँच आवश्यक कर्तव्य हैं - आत्मोन्नति,
देवपूजा, साधर्मी बन्धुओं की सहायता अतिथिदान और पूर्वजों की
कीर्ति की रक्षा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि श्रावक के षट्-आवश्यक कर्तव्यों में
देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान इन छह कार्यों को
आवश्यक रूप से करने का प्रावधान है। पहले श्रावक को अहिंसा मूलक
अष्ट मूलगुणों का पालन आवश्यक होता है। जो व्यक्ति श्रावक के अष्टमूल
गुणों व षट्आवश्यकों को पूर्ण रूपेण जीवन में अपना लेता है वह नियम
से तीन भव में, पाँच भव में या सात-आठ भव में मुक्ति को प्राप्त होता है’
ऐसा आगम में उल्लेख है।^३

१. “आवासं जई इच्छई अब्ब सहावेसु कुणई थिर भावं”

२. पद्मनन्दि पंचविंशति पृष्ठ १२८, श्लोक ७

३. सिञ्जइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमइमए।

भुंजवि सुर-मणुय सुहं पावेइ कमेण सिद्ध पयं ॥ - वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक, ५३९

श्री पद्मनन्दि पंचविंशति शास्त्र में यह लिखा है कि -

“ये जिनेन्द्रं न पश्यति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च तेषां गृहाश्रमम् ॥”

जो भक्ति से भगवान का दर्शन नहीं करते स्तुति नहीं करते उनका
जीवन निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। अतः गृहस्थों
को प्रातः उठकर के भक्ति से जिनेन्द्र देव व निर्ग्रंथगुरु का दर्शन-वंदन
करके धर्म श्रवण करना चाहिए।

उपर्युक्त समस्त कथन का मूल प्रयोजन यह है कि हमें पाप भाव से
बचने के लिए नित्यप्रति देवपूजा आदि षट्कर्म अवश्य करना चाहिए।
राग की प्रचुरता होने के कारण, अशुभ-राग की आग से बचने के
लिए, गृहस्थों के लिए जिन पूजा प्रधान कर्तव्य है। यद्यपि इनमें पंच
परमेष्ठियों का एवं जिन प्रतिमाओं का आश्रय होता है; परन्तु उन सब में
अपने भाव प्रधान हैं जिनके कारण पूजक अशुभ से बचता है। यहाँ यह
भी ध्यान रखने की बात है कि लौकिक भोगों की वांछा से की गई जिनेन्द्र
पूजा भी भोगों में आशक्ति होने के कारण पाप बंध का ही कारण होती है।
अतः पूजाभक्ति निष्काम ही होनी चाहिए।

१. देवपूजा :- नित्य-नैमित्तिक के भेद से पूजन अनेक प्रकार की
है और वह जल चन्दनादि अष्ट द्रव्यों के अवलम्बन से की जाती है। नृत्य
गानादि के साथ भक्ति भाव से की गई पूजा विशेष फलदायी होती है;
क्योंकि उसमें अपना उपयोग अशुभ से हटकर गुणानुराग में विशेष लग
जाता है। हाँ यदि गुणानुराग के स्थान पर संगीत के लय-स्वर आदि में व
नृत्य के हाव भावों में ही रस आने लगे तो वह तो इन्द्रिय विषय रूप
अशुभ भाव ही हुए, उससे धर्मलाभ की आशा दुराशा मात्र है।

गृहस्थ जीवन में कुछ अति आवश्यक काम ऐसे भी होते हैं जिनमें
उद्योग व आरंभ जनित हिंसा से पूरी तरह बच पाना संभव ही नहीं है;
उसके लिए मन्दिर में जाकर अपनी आलोचना आदि द्वारा पापों से

छुटकारा पाने का मार्ग है; परन्तु धर्मक्षेत्र में हुई हिंसा से छुटकारा पाना संभव नहीं है। कहा भी है -

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं, धर्म क्षेत्रे विनश्यति ।

धर्म क्षेत्रे कृतं पापं, बज्रलेपो भविष्यति ॥

भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें पूजन सामग्री से कोई प्रयोजन नहीं है। अपने चित्त की स्थिरता के लिए ही यह अष्टद्रव्य रूप विविध आलंबन हैं, अतः जहाँ श्रावक स्वयं अष्टमी चतुर्दशी व्रत आदि के दिनों में अहिंसक आचरण के लिए सचित्त वस्तुओं का उपयोग नहीं करता, वहाँ जिनेन्द्र पूजन में भी अहिंसक आचरण क्यों न करें?

पूजन विधि के ३ भेद भी शास्त्रों में हैं १. सचित्त पूजा, २. अचित्त पूजा, ३. मिश्र पूजा। जिनका अर्थ निम्न प्रकार हैं :-

१. प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो **सचित्त पूजन** है। अर्थात् यथा साक्षात् समवशरण में विराजमान अरहंत भगवान एवं मुनिराज की पूजा करना।

२. तीर्थकर आदि के शरीर की और द्रव्यश्रुत (लिपिबद्ध) शास्त्रों की पूजा करना वह **अचित्त पूजा** है।

३. अरहंत एवं उनकी मूर्ति दोनों की पूजा करना **मिश्र पूजा** कहलाती है।^१ ध्यान दें, उक्त कथन पूज्य के सचित्त व अचित्त होने की बात कही गई है, न कि द्रव्य की।

पूजन का प्रारम्भ विनय पाठ से होता है। विनय पाठ में पहली पंक्ति है - “इह विध ठाढ़ो होय के” अर्थात् विधिपूर्वक विनय से-खड़े होकर भगवान की पूजन प्रारम्भ करते हुए भक्त भगवान के गुणगान करता है। कहीं-कहीं बैठकर पूजन करने की परम्परा है, परन्तु जबतक/जहाँ तक

१. देवपूजा संबंधी विशेष जानकारी के लिए देखें, लेखक की कृति जिनपूजन रहस्य।

खड़ा रहा जा सके तब तक तो प्रमाद रहित होकर खड़े रहने में ही विनयभाव हैं। जिसमें खड़े होने की सामर्थ्य नहीं है वह बैठकर भी पूजन करें तो निषेध नहीं। विशेष परिस्थिति में बैठकर पूजन करना अपवाद मार्ग है, राजमार्ग नहीं। आह्वानन तो फिर भी खड़े होकर ही करें।

स्वस्ति मंगल पाठ :- विनय पाठ के पश्चात् नित्य नियम पूजा पढ़ने की परम्परा है - उसमें पूजक द्वारा स्वस्ति मंगल पाठ^१ की पंक्तियाँ पढ़ते हुए-जिनेन्द्र पूजन का उद्देश्य, पूजन करने के संकल्प का भाव प्रगट किया गया है - यह स्वस्ति मंगल विधान संस्कृत में होने से पूजक पढ़ तो जाते हैं; परन्तु उन्हें यह पता नहीं रहता है कि हम भगवान के समक्ष क्या-क्या कह गये हैं?

मंगल पाठ में कहा गया है कि “मैं तीन जगत के ईश, स्यादवाद के नायक, अनन्तगुणों के धारक श्रीमद् जिनेन्द्र भगवन्तों को अभिवादन करके उनकी पूजा करता हूँ।” पूजा करने वाला भक्त यह भलीभाँति जानता है कि पूजा का भाव “सुकृतैक हेतु” अर्थात् पुण्य बंध का ही कारण है। अतः पूजा करने की प्रतिज्ञा करते हुए भक्त स्वयं कहता है -

“अर्हंत पुराण पुरुषोत्तम पावनानि, वस्तून्यमून्यमखिलान्ययमेक एव।

अस्मिन् ज्वलद् विमल केवल बोधबन्धौ पुण्यं समग्र महमेक मना जुहोमि ॥

हे अरहंत! हे पुराण पुरुषोत्तम!! इन समस्त पवित्र वस्तुओं के द्वारा की गई पूजा से मुझे जो पुण्य की प्राप्ति होगी, वह पुण्य मुझे नहीं चाहिए। अतः इस पूजन में जो पुण्य प्राप्ति हो, उसको मैं आपके केवलज्ञान रूपी अग्नि में समर्पित करता हूँ अर्थात् मुझे आत्मा की विशुद्धि और केवलज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए। मैंने आपकी पूजा पवित्रता प्राप्त करने के लिए की है, पुण्य के लिए नहीं। मेरा उद्देश्य पाप से बचना और परमात्म पद की प्राप्ति करना है, पुण्य की अभिलाषा नहीं।”

१. “श्रीमद् जिनेन्द्रमभिवंध जगत्त्रयेशं स्याद्वाद नायकमनत चतुष्टयाहं।
श्री मूल संघ सुकृतैक हेतु, जैनेन्द्र यज्ञ विधिरेस मयाऽभ्यधामि ॥”

हम लोग अपनी-अपनी पत्नियों को लेने के लिए कभी न कभी सुसराल तो गये ही होंगे और आपके स्वसुर ने अपनी शक्त्यानुसार ५१/- १०१/- रु. देकर आपको तिलक किया ही होगा; परन्तु आपका उद्देश्य पत्नी को लाने का था न कि तिलक के रुपया लेने का, फिर भी तिलक तो हुआ ही होगा, तब आपने उस तिलक के रुपयों का क्या किया था? मेरे ख्याल से आपने उन रुपयों को वहाँ जो उनके बाल-बच्चे खड़े होंगे उन्हें ही बाँट दिये होंगे और पत्नी लेकर घर चले आये होंगे! यदि आप उन सभी रुपयों को चुपचाप जेब के हवाले कर लेते और सोचते चलो अच्छा हुआ ८ दिन का जेब खर्च का काम चलेगा, और उन रुपयों के लालच में शीघ्र-शीघ्र सुसराल में आने लगते तो क्या फिर आपको बार-बार १०१/- रुपये का टीका होता? अरे भाई दूसरी बार में ही १०१/- से ११/- रुपये रह जाते, और रुपयों का लालची जानकर कोई आदर भी नहीं करता।

अरे भाई! जिस प्रकार पत्नी को साथ लाते हैं और रुपये वहीं बांट आते हैं, ठीक इसी प्रकार भगवान की भक्ति में वीतरागता तो ग्रहण करते हैं और बीच-बीच में आया हुआ प्रशस्त रागरूप पुण्य वहीं भगवान के प्रज्वलित केवलज्ञानरूपी अग्नि में समर्पित कर देते हैं। पुण्य कोई ग्रहण करने की वस्तु नहीं। यद्यपि पूजा करने में पुण्य मिलेगा, इसमें दो राय नहीं है; परन्तु जो पुण्य का लोभी होकर ग्रहण करेगा और बार-बार पुण्य फल की प्राप्ति हेतु पूजा करेगा तो तीव्र राग होने से वह भी नहीं मिलेगा, अतः पूजा के सही उद्देश्य को समझकर पूजा करना चाहिए।

पुण्य कार्य करना अलग बात है और पुण्य की चाह करना अलग बात है। पापों से बचने के लिए पुण्य कार्य तो ज्ञानी भी करते हैं, किन्तु ज्ञानी को पुण्य की चाह नहीं होती। ज्ञानी जीव बुद्धिपूर्वक आदर के साथ पुण्य कार्य करते हुए भी श्रद्धा में उसे उपादेय नहीं मानते।

यहाँ ज्ञातव्य है कि पाप तो बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है और पुण्य अपनी भूमिकानुसार स्वयं छूट जाता है, उसे छोड़ना नहीं पड़ता।

जब पुण्य धर्म का चोला पहनकर आता है तो उससे बार-बार सावधान करना पड़ता है कि भाई यह पुण्य परिणाम धर्म नहीं है, इसे धर्म मानना अज्ञान है।

इसी स्वस्ति मंगल पाठ में द्रव्य शुद्धि व भाव शुद्धि की जो चर्चा है, इसका तात्पर्य यह है कि बाह्य शारीरिक शुद्धि को यथाशक्ति करके भाव शुद्धि प्राप्त करने की हृदय से कामना करता हूँ। 'यथाशक्ति' का अर्थ है स्नानादि करके शुद्ध वस्त्र पहनना। वैसे तो शरीर हाड़, माँस का पिण्ड है, उसमें भी नव घिनावने द्वार प्रवाहित होते ही रहते हैं, मल-मूत्र का भरा हुआ घड़ा है, जिसकी शुद्धि संभव ही नहीं है, फिर भी बाह्य शुद्धि हेतु स्नानादि करके शुद्ध वस्त्र पहनना आवश्यक है। यही द्रव्य शुद्धि है। मैं विविध आलंबन स्वरूप अष्टद्रव्य लेकर हे भगवन! आपकी भूतार्थ यज्ञ यानी यथार्थ पूजन करता हूँ। विविध आलंबन में अष्टद्रव्य के अतिरिक्त वाद्य गीत-नृत्यादि भी हो सकते हैं।

पूजा में अष्ट द्रव्यों का प्रयोजन :- जो कमजोर होते हैं, उन्हें आलंबनों की आवश्यकता होती है जो सबल हैं उसे आलंबन नहीं चाहिए। छठवें सातवें गुणस्थान में झूलने वाले भाव लिंगी परम दिगम्बर मुनिराजों की आत्मा अशक्त नहीं है, अतः उन्हें पूजन में आलंबन स्वरूप अष्टद्रव्य व नृत्य-गीत-संगीतादि की आवश्यकता नहीं होती। गृहस्थ का उपयोग इधर-उधर भटकता है, अतः चित्त की एकाग्रता हेतु उन्हें आलंबन चाहिए।

पूजन में अष्टद्रव्य चढ़ाने का दूसरा उद्देश्य यह है कि "हे भगवन! आज तक मैंने अनेक बार इन बहुमूल्य अष्टद्रव्य स्वरूप भोग सामग्री का सेवन किया; किन्तु इनसे किंचित् भी तृप्ति नहीं हुई, अतएव पुण्य के फल

स्वरूप प्राप्त यह सभी सामग्री आपकी साक्षीपूर्वक समर्पण करके मैं वीतरागता की आराधना कर स्वयं वीतराग बनना चाहता हूँ।

आज तक मैंने अपनी शक्ति व सामर्थ्य को नहीं पहचाना, मैं तो स्वयं में ही परिपूर्ण हूँ। मुझे सुखी होने के लिए इन बाह्य भोग सामग्री की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। अब यह बात मुझे अच्छी तरह समझ में आ रही है, “अतएव मैं यह समस्त भोग सामग्री आपकी साक्षीपूर्वक त्यागने या समर्पित करने आया हूँ।” ऐसी भावना भाता हुआ ज्ञानी भक्त भगवान के चरणों में अष्टद्रव्य समर्पित करता है।

इस प्रकार पूजन करने के प्रारम्भ में स्वस्ति विधान में जो “समग्र पुण्यं एकमना जुहोमि” वाक्य आया, उसका एवं द्रव्यशुद्धि व भावशुद्धि तथा विविध आलम्बनों का संक्षेप में स्पष्टीकरण किया।

पूजा के प्रारम्भ में अर्घ्य चढ़ाने हेतु हम निम्नांकित छन्द बोलते हैं -

उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः ।

धवलमंगलगानरवाकुले-जिनगृहे जिननाथमहं यजे ॥

इस पद्य में कहा गया है कि - ‘जिनगृहे जिननाथमहं यजे’ अर्थात् मैं जिनमन्दिर में जिननाथ की पूजा करता हूँ। वीतरागी जिननाथ की पूजा करनेवाला जीव किसी भी प्रकार के रागी देवों को कभी पूज्य नहीं मान सकता। पूजा/भक्ति का भाव भले ही शुभभाव है; परन्तु भक्त तो वीतरागी भगवान के प्रति समर्पित है। शुभराग होता है, पर उसकी दृष्टि शुभराग पर नहीं है, वीतरागी भगवान पर है।

उपर्युक्त पद्य में यह भी कहा है कि जहाँ जिननाथ विराजमान हैं तथा जिसमें हम जिननाथ की पूजा करते हैं, वह जिनमन्दिर “धवलमंगलगान-रवाकुले” अर्थात् धवल है, उज्ज्वल है और मंगलकारी गान के नाद से गूँज रहा है। ऐसे जिनमन्दिर में मैं अष्टद्रव्य के द्वारा पूजा करता हूँ वे अष्टद्रव्य इसप्रकार हैं -

‘उदकचंदनतन्दुलपुष्प-कैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः’ अर्थात् उदक (निर्मल जल), चन्दन, तंदुल, पुष्प, नैवेद्य, मणिमय दीप, सुगंधित धूप, सरस और फल इन अष्टद्रव्यों से मैं जिननाथ की पूजा करता हूँ।

जल - जल द्वारा पूजा करते हुए भक्त सोचता है - १. जल नम्रता और निर्मलता का प्रतीक है। जल द्वारा पूजा करते समय मन जल जैसा निर्मल तो हो, पर जल जैसा अस्थिर (चंचल) नहीं होना चाहिए, क्योंकि जिस तरह हिलते हुए जल में मुखाकृति नहीं दिखती, उसीप्रकार अस्थिर मन में भगवान के दर्शन नहीं होते।

२. जल जिसतरह मैल धो देता है, उसीप्रकार जल चढ़ाकर राग-द्वेष रूपी मैल धो डालना चाहिए। कहा भी है -

मलिन वस्तु हर लेत सब जल स्वभाव मल छीन ।

जासों पूजों परम पद, देव-शास्त्र-गुरु तीन ॥

३. यह जल अनादि काल से पिया, परन्तु प्यास नहीं बुझी; विषयों की आशारूपी प्यास बुझाने के लिए भी विषयरूप जल पिया, परन्तु वह आशारूपी प्यास भी इस जल से शान्त नहीं हुई; अतः यह जल आपके चरणों में समर्पण करके समता रूपी जल पीना चाहता हूँ।

४. जैसे जल अपने नम्र स्वभाव से पत्थर जैसी कठोर वस्तु को भी धीरे-धीरे काट देता है, उसीप्रकार आत्मा भी धीरे-धीरे विकार को काट दे-शमन कर दे या पचा दे, तभी जल द्वारा पूजा करना सार्थक है।

चन्दन - १. चन्दन शीतलता, सहनशीलता और सुगन्ध का प्रतीक है। कहा भी है - ‘चन्दन शीतलता करे तपतवस्तु परवीन’ अर्थात् चन्दन तप्त वस्तु को शीतल बना देता है। चन्दन द्वारा पूजा करते समय भक्त यह भावना भाता है कि “मेरा आत्मा स्वभाव से तो चन्दन से भी अधिक शीतल है। मैं सदा उसी आत्मा का आश्रय करूँ, जिससे आधि-व्याधि-उपाधिमय त्रिविध ताप का शमन होकर मुझे समाधि की प्राप्ति हो।”

२. चन्दन को कूड़े के ढेर पर रखा जावे, घिसा जावे, काटा जावे तो वह काटनेवाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धमय बना देता है। चन्दन द्वारा पूजा करते समय भक्त यह भावना भाता है कि “चंदन के वृक्षवत् बाह्य अनेकप्रकार की प्रतिकूलताएँ आने पर भी मैं उनका ज्ञाता-दृष्टा बना रहूँ, मैं अपने ज्ञानमय स्वभाव को कभी न छोड़ूँ।”

अक्षत – १. अक्षत चढ़ाते समय भक्त की यह भावना होती है कि वह अक्षत की भाँति अजन्मा हो जाय। जिसतरह अक्षत बौने पर उगते नहीं हैं, उसी प्रकार मेरा आत्मा पुनर्जन्म न ले।

२. अक्षत अर्थात् चावल जैसे उज्ज्वल हैं, उनके ऊपर अब धान का छिलका नहीं, चावल के ऊपर कन नहीं, लालिमा नहीं; उसी प्रकार मेरा आत्मा भी शरीर, राग-द्वेष और भेदभावों से भिन्न एक अखण्ड, अभेद उज्ज्वल ज्योति स्वरूप है। कहा भी है -

“उज्ज्वल हूँ कुन्द धवल हूँ, प्रभु, पर से न लगा हूँ किंचित भी।”

३. अक्षत का आलम्बन लेकर भक्त भगवान से कहता है कि - उत्तम अक्षत तो प्रभुवर आप ही हो, जो कभी भी क्षत को प्राप्त नहीं होते, आपकी पूर्ण निर्मल पर्याय कभी मलिन नहीं होती।

पुष्प – पुष्प समर्पण करते समय भक्त भावना भाता है। जिसतरह यह पुष्प अन्दर बाहर एक समान सुकोमल है, सुगन्धित है उसीप्रकार मेरा हृदय भी अन्दर-बाहर एक समान सुकोमल (सरल) और जगत को सुखद सौरभ से भरने में समर्थ हो जावे।

लोक में पुष्प को काम का प्रतीक माना गया है अतः भक्त भावना भाता है कि “मैं काम की पीड़ा नाश करने हेतु यह पुष्प आपके चरणों की साक्षी से त्यागता हूँ। अर्थात् कामवासना को कम करने का संकल्प करता हूँ।”

नैवेद्य :- लोक में नैवेद्य क्षुधा पूर्ति का साधन है, भक्त कहता है कि “मैंने अनादिकाल से सभी तरह के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का भक्षण किया

तो भी मेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई। अतः अब मैंने समझा कि सचमुच क्षुधा रोग मिटाने का उपाय भर पेट खाना नहीं है, अतः मैं सर्व प्रकार के व्यंजनों का त्याग करने की भावना भाता हुआ यह नैवेद्य समर्पित करता हूँ और क्षुधा रोग से रहित स्वभाव वाले आत्मा की शरण में जाता हूँ।”

दीपक – दीपक द्वारा पूजा करते समय भक्त की भावना होती है कि-

१. “जैसे दीपक में जबतक तेल (स्नेह) है, तबतक वह जलता है, उसीप्रकार जबतक मुझमें स्नेह (राग) है, तबतक मुझे संसार में त्रिविध ताप से जलना पड़ेगा-परिभ्रमण करना पड़ेगा। हे भगवन्! दीपक द्वारा आपकी पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि मैं राग का सर्वथा अभाव करके संसार परिभ्रमण से छूट जाऊँ।

२. लौकिक दीपक के लिए तेल, घी चाहिए। जबतक तेल-घी हो, तभी तक प्रकाश देता है, किन्तु चैतन्यदीपक के लिए अन्य किसी भी बाह्य पदार्थ की किञ्चित्मात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं प्रकाशमान है। दीपक द्वारा पूजा करते समय भक्त कहता है कि “मैं भावना भाता हूँ कि मेरा चैतन्यदीपक सदा स्वयं प्रकाशित रहे और अन्य कोई भी परद्रव्य-परभाव की उसे आवश्यकता कभी न हो।”

३. “रत्नदीपक के अतिरिक्त जितने भी अन्य लौकिक दीपक हैं, वे सब प्रचण्ड वायु के कारण बुझ जाते हैं; किन्तु रत्नदीपक स्वयं प्रकाशमान होने के कारण वह प्रचण्ड वायु से भी नहीं बुझता; भक्त कहता है कि “वैसे ही मेरे चैतन्यदीपक का प्रकाश अनन्त प्रतिकूलताओं से भी समाप्त न हो।”

४. दीपक द्वारा पूजा करते समय भक्त भावना भाता है कि “आपके केवलज्ञान सूर्य से सम्यग्ज्ञान पाकर मेरा छोटा-सा ज्ञानदीपक सदाकाल अन्तर में प्रकाशमान रहे। जैसे दीपक का प्रकाश अन्धकार का नाश करनेवाला है। वैसे ही ज्ञानदीपक द्वारा मेरे मोहान्धकार-अज्ञानतिमिर का सर्वथा नाश हो और पदार्थ का स्वरूप जैसा है, वैसा ही मेरे ज्ञान में प्रतिभासित हो।”

५. दीपक के निकट कोई पदार्थ हो तो दीपक उसको प्रकाशित कर सके और दूर हो तो प्रकाशित न कर सके - परन्तु ज्ञान का स्वभाव ऐसा नहीं है। ज्ञानस्वभाव तो एक जगह रहकर भी लोकालोक को जान सकता है। इसीकारण भक्त कहता है कि - “हे प्रभो! अन्य ज्ञेय पदार्थ, चाहे वे समीप हों या दूर हों तो भी मैं उनको ज्ञाता होकर सदा जानता ही रहूँ - ऐसा स्वभाव प्रगट हो जावे।”

६. दीपक के निकट सोने का ढेर हो तो हर्ष से दीपक का प्रकाश बढ़ता नहीं है तथा कोयले का ढेर हो तो विषाद से प्रकाश घटता नहीं है। दीपक तो उन दोनों को ही समानरूप से प्रकाशित करता है; उसीप्रकार ज्ञानदीपक का प्रकाश अनुकूल पदार्थ हो तो बढ़ जाये और प्रतिकूल पदार्थ हो तो घट जाये - ऐसा कभी नहीं होता, इसलिए भक्त ऐसा सोचता है कि “सर्वपदार्थों को मैं स्वज्ञान द्वारा ज्ञाता-दृष्टापने जानता ही रहूँ; प्रतिकूलता से और अनुकूलता से मैं प्रभावित न हो जाऊँ।”

७. जैसे दीपक स्वभाव से ही स्व-परप्रकाशक है, वैसे ज्ञानदीपक भी स्वभाव में ही स्व-परप्रकाशक है, इसलिए भक्त भावना भाता है कि “मेरा ज्ञानदीपक सदाकाल प्रकाशवान ही रहे, अन्य पदार्थ व मोह-राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता न बने।”

इसीप्रकार धूप और फल समर्पण के समय भक्त विचारता है कि अष्टकर्मों को तपस्वचरणरूप ज्वाला में जलाकर मोक्षफल प्राप्त करूँ। इसप्रकार पूजा का मूल प्रयोजन तो मुक्ति प्राप्त करना ही है।

जीव जबतक अपने शुद्धस्वरूप में लीन नहीं रह सकता, उसको सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा, भक्ति आदि का शुभभाव आये बिना नहीं रहता, किन्तु ज्ञानी समझते हैं कि ये शुभभाव भी पुण्यबंध के कारण हैं, उनका भी अभाव कर जब अपने शुद्धस्वरूप में लीनता करूँगा, तभी निश्चय भावपूजा होगी और यही धर्म है, इसलिए यही करनेयोग्य है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि पूजा के सभी (अष्ट) द्रव्य तीनप्रकार के प्रतीक हैं - १. गुणों के प्रतीक, २. भोगों के प्रतीक और ३. आलम्बन के प्रतीक तथा जिसप्रकार जिनमन्दिर समवसरण का प्रतीकरूप है, जिनप्रतिमा अरहंत भगवान की प्रतीकरूप है, पुजारी स्वयं इन्द्र के प्रतीकरूप हैं, जिसप्रकार इन सबमें स्थापना निक्षेप से ऐसा प्रतीकरूप व्यवहार होता है, उसीप्रकार अष्टद्रव्य में भी स्थापना निक्षेप से जल में क्षीरसागर के जल की स्थापना कर ली जाती है, उज्वल धुले चावलों में अक्षत की स्थापना एवं केशर से रंगे चावलों में पुष्पों की तथा चन्दन के ताजे बुरादे में ही धूप की स्थापना की जाती है, क्योंकि किसी भी प्रकार की हिंसोत्पादक सामग्री से पूजा नहीं की जाती।

पूजा का उद्देश्य - १. वीतरागी देव की सच्ची पूजा की सार्थकता सर्वप्रकार से रागादि भावों का आदर छोड़कर वीतरागी बनने में है।

२. सर्वज्ञ की सच्ची पूजा अल्पज्ञ पर्याय का आदर छोड़कर सर्वज्ञता प्रकट करने में है।

३. वीतरागी प्रभु की सच्ची प्रभुता प्राप्त करने में है। यही पूजा का उद्देश्य है और इसी में पूजा की सफलता व सार्थकता है।

२. गुरुपासना :- गुरु शब्द का अर्थ महान होता है। लोक में अध्यापकों को गुरु कहते हैं। माता-पिता भी गुरु कहलाते हैं; परन्तु धार्मिक प्रकरण में आचार्य, उपाध्याय व साधु ही गुरु हैं; क्योंकि वे जीवों को उपदेश देकर अथवा बिना उपदेश दिए ही केवल अपने जीवन का दर्शन कराकर कल्याण का वह मार्ग बताते हैं, जिसे पाकर जीव सदा के लिए कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त विरक्त चित्त सम्यक दृष्टि श्रावक भी उपर्युक्त कारणवश ही गुरु-संज्ञा को प्राप्त होते हैं। परम गुरु, दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु आदि के भेद से भी गुरु कई प्रकार के होते हैं।

आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार की तात्पर्य टीका में स्पष्ट उल्लेख किया है कि “अनन्त ज्ञानादि महान गुणों के द्वारा जो तीनों लोकों में महान हैं वे भगवान अरहंत त्रिलोक गुरु हैं।”

आचार्य उपाध्याय व साधु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र गुणों द्वारा बड़े हैं अतः गुरु हैं। इस प्रकार जो साधु तप शील संयम में श्रेष्ठ व २८ मूलगुणों के धारक हैं वे साक्षात् गुरु हैं।

उपकारीजनों को भी गुरु माना गया है। हरिवंश पुराण में लिखा है – “उस रत्नद्वीप में जब चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के समक्ष चारुदत्त आदि बैठे थे तब स्वर्गलोक से दो देव आये; जिन्होंने मुनि के पहले चारुदत्त को नमस्कार किया तो पूछा कि हे देवो! तुम दोनों ने मुनिराज को छोड़कर श्रावक को पहले नमस्कार क्यों किया? देवों ने इसका कारण कहा कि – इन चारुदत्त ने हम दोनों को जिन धर्म का उपदेश दिया है, इसलिए ये हमारे साक्षात् गुरु हैं।”

श्रावक के षट् आवश्यकों में गुरुपासना दूसरा आवश्यक कर्तव्य है। उपर्युक्त पंच परमेष्ठी स्वरूप गुरुओं की यथायोग्य विनय आदर सत्कार अथवा भक्ति पूजादि करना गुरुपासना है। सम्यग्दर्शन ‘ज्ञान’ चारित्रादि की प्राप्ति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक पूज्य पुरुषों की विनय-भक्ति ही सच्चे निमित्त हैं। जब विषयाभिलाषियों को विषय सामग्री जुटाने की क्रिया बुद्धिपूर्वक प्रयत्न पूर्वक देखी जाती है तो आत्माभिलाषियों द्वारा यह काम प्रयत्नपूर्वक क्यों नहीं किया जाना चाहिए, करना ही चाहिए।

यहाँ ज्ञातव्य है कि यदि हम मुनियों (गुरुओं) का सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? अतः सच्ची गुरु भक्ति के लिए सच्चे गुरु का यथार्थ स्वरूप जानना भी अति आवश्यक है।

समन्तभद्रस्वामी ने श्रावकाचार में सच्चे गुरु का स्वरूप लिखा है –

“विषयाशावशातीतो निरारंभो परिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तः तपस्वी स प्रसस्यते ॥

पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा से अतीत आरम्भ और परिग्रह से रहित, ज्ञान ध्यान व तप में लीन तपस्वी साधु ही प्रशंसा के योग्य हैं। मेरी भावना में भी ऐसा ही लिखा है –

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं।
निज पर के हित साधन में जो निश दिन तत्पर रहते हैं।।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के दुख समूह को हरते हैं।।

गुरु के प्रसाद से ही या उनके उपदेशों से ही तो हम परमात्मा और आत्मा का स्वरूप समझ पाते हैं।

सद्गुरु के उपदेश बिना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। भले ही यह कथन निमित्त का है परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी तो कोरी कल्पना नहीं है।

प्रश्न :- सच्चे गुरु की पहचान क्या है?

उत्तर :- सच्चे गुरु की पहचान की कोई समस्या नहीं है। स्वर्ण के पारखी को स्वर्ण और पीतल का भेद करने में, जौहरी को काँच व हीरा में भेद करने में एक क्षण भी नहीं लगता। पहचान के लिए छहढाला की निम्न पंक्तियाँ स्मरणीय हैं –

“अरि-मित्र, महल-मसान कंचन-कांच, निन्दन-शुतिकरन।

अर्धाव तारन-असि प्रहारन में सदा समता धरन।

सच्चे साधु शत्रु-मित्र में, महल-मसान में, कंचन-कांच में, निन्दा करने वालों और स्तुति करने वालों में, पूजा करने वाले या तलवार का वार करने वाले में समान रूप से समता भाव रखते हैं।

इसप्रकार गुरु के स्वरूप को पहचान कर उनकी उपासना करना, विनय भक्ति करना दूसरा आवश्यक है।

३. स्वाध्याय – सत् शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, वाँचना, पूछना, मनन करना, उपदेश देना आदि स्वाध्याय कहा जाता

है। स्वाध्याय में “स्व+अधि+आय = स्वाध्याय” इसका शाब्दिक अर्थ होता है - अपने स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन। अपने स्वभाव के अध्ययन की प्रक्रिया में अपने विभाव और संयोगी पर तत्त्व का अध्ययन आ ही जाता है। परन्तु पर को मात्र जानना है जानकर उसे छोड़ना है, स्व को मात्र जानना ही नहीं बल्कि जानते रहना है, स्वयं में जमना है रमना है उसी में समा जाना है, अतः स्वाध्याय में मुख्यता आत्म ज्ञान की ही है।

चारित्र सार नामक ग्रन्थ में लिखा है - “स्वस्मै हितो अध्यायः स्वाध्याय” अर्थात् अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है। तत्त्वज्ञान को पढ़ना-पढ़ाना स्मरण करना आदि स्वाध्याय है।

स्वाध्याय को जिनवाणी में परमतप कहा है - ‘स्वाध्यायः परमतपः’ स्वाध्याय ही उत्कृष्ट तप है। स्वाध्याय को मोक्षमार्ग का उत्कृष्टतम साधन होने से सभी धर्म साधकों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वाध्याय का श्रावक के षट्आवश्यकों में तृतीय स्थान है, मुनियों के षट्आवश्यकों में भी स्वाध्याय को पंचम स्थान प्राप्त है। बारह तपों में भी स्वाध्याय नामक तप है।

इस प्रकार ‘स्वाध्याय’ धर्म साधन का अत्युपयोगी व महत्वपूर्ण अंग है। इससे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तो होती ही है साथ ही सर्वाधिक उपयोग की एकाग्रता, मन की स्थिरता व चित्त की निश्चलता स्वाध्याय से ही होती है। अतः नियमित स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

४. संयम - संयम अर्थात् अपने उपयोग को पर पदार्थ पर से हटाकर आत्मसन्मुख करना, अपने में समेटना, सीमित करना, अपने में लगाना, उपयोगकी स्वलीनता निश्चय संयम है और पाँच स्थावर और त्रस - इन छह कार्यों के जीवों की हिंसा से बचना, पाँच व्रतों को धारण करना क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, पाँच इन्द्रियों को जीतना; ये व्यवहार संयम हैं।

यह संयम सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और यह संयम मुख्यतया मनुष्य पर्याय में ही होता है, कहने को तिर्यश्चों को भी हो सकता, पर वह नगण्य ही है। अतः मनुष्य जन्म की सार्थकता संयम से ही हैं। यह अवसर चूकना योग्य नहीं है।

संयम दो प्रकार का है। १. प्राणि संयम, २. इन्द्रिय संयम। छहकाय के जीवों की रक्षा प्राणिसंयम एवं पाँच इन्द्रियों व मन को वश में करना इन्द्रिय संयम है। इसे रत्न की तरह संभालने की सलाह दानतराय कवि ने दी है। वे कहते हैं -

“संयम रतन संभाल, विषय चोर बहुत फिरत हैं।”

पण्डित टोडरमलजी ने उक्त दोनों संयमों के पालन में होने वाली मूल बाधाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि हिंसा आदि पापों में प्रमाद परिणति मूल है और इन्द्रिय विषयों में अभिलाषा मूल है, अतः इनके पालन करते समय उनसे बचने में सावधानी रखें।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो देवताओं में संयम होना चाहिए। देवगति में संयम क्यों नहीं होता? वहाँ द्रव्य हिंसा तो है ही नहीं और पाँचों इन्द्रियों के भोग भी ऊपर-ऊपर घटते गये हैं।

समाधान : वस्तुतः संयम सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई वीतराग परिणति का नाम है, जो कम से कम दो कषाय चौकड़ी के अभाव में ही होता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया लोभ।

स्वर्ग में दूसरी अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का अभाव नहीं होता। अतः बाह्य हिंसा व विषय न होते हुए भी संयम नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मात्र बाह्य में अहिंसक क्रिया और इन्द्रियों के त्याग की क्रिया कार्यकारी नहीं है। अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है।

५. तप – तप के सम्बन्ध में भी आचार्य कुन्दकुन्द यह कहते हैं कि “समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप में प्रतपन करना विजय करना तप है। इसमें अस्ति-नास्ति – दोनों कथन आ गये। अस्तित्व से स्वरूप में प्रतपन करना, लीन होना तप है और नास्ति से कहें तो “इच्छाओं का निरोध करना तप है। अन्य आचार्यों ने कहा है –

तप के मूलतः दो भेद हैं – १. अंतरंग तप, २. बहिरंग तप। अन्तरंग तप के छह भेद हैं – १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयाव्रत, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग ६. ध्यान तथा बहिरंग तप के भी छह भेद हैं – १. अनशन, २. उनोदर, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त शैयासन और ६. काय क्लेश। ये तप मुख्यतया तो साधुओं के होते हैं, समकिति गृहस्थ भी यथा साध्य इन्हें करते ही हैं, करना भी चाहिए।

६. दान – यह अन्तिम छठवाँ आवश्यक है। दान के सम्बन्ध में आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि – अनुग्रह अर्थात् उपकार के हेतु अपने धनादि को दूसरों को देना दान है। दान में परोपकार की भावना मुख्य रहती है। वैसे शास्त्रों में आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान की चर्चा है; परन्तु यह चर्चा साधु-संतों की मुख्यता से तथा अपने पूज्य और श्रद्धेय पुरुषों को इन चारों दानों द्वारा जीवन निर्वाह के साधन जुटाने की मुख्यता से हैं। इनके अतिरिक्त, दया दत्ति, समदत्ति धर्मायतन के निर्माण और जिनवाणी के प्रचार-प्रसार आदि में न्यायोपार्जित द्रव्य देना जैसे और भी दान के अनेक रूप हैं जो श्रावकों को अपने विवेक से करना ही चाहिए।

□

नोट – संयम, तप एवं दान की विशेष जानकारी के लिए ‘धर्म के दशलक्षण’ का स्वाध्याय अवश्य करें।

४

पुण्य और धर्म में मौलिक अन्तर

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर मानि।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरण हित जानि॥^१

यद्यपि शताब्दियों से जिनवाणी के रहस्यवेत्ता पुण्य-पाप और धर्म के स्वरूप की चर्चा करते आ रहे हैं, तथापि तत्त्वज्ञान के अनभ्यास के कारण आज भी अधिकांश लोग पुण्य व धर्म में अन्तर नहीं समझते।

यद्यपि पुण्यभाव और पुण्य-क्रियायें ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि व मुनिजनों के जीवन में भी पायी जाती हैं, किन्तु उनके पुण्य की चाह नहीं है। जब-जब ज्ञानी व मुनि अपनी वीतराग परिणति में नहीं ठहर पाते, तब-तब उनके शुभभाव एवं पुण्य-क्रियायें ही पायी जाती हैं, किन्तु उनको इसका हर्ष नहीं होता; बल्कि खेद वर्तता है। वे इन शुभभावों या पुण्य क्रियाओं में ही सन्तुष्ट होकर रम नहीं जाते। वे इनमें धर्म नहीं मानते। पुण्य कर्म धर्म नहीं, धर्म की सीढ़ियाँ हैं, सोपान है, जिन्हें छोड़ते हुए आत्मा में आते हैं, निज घर में प्रवेश करते हैं। अन्दर आने का मार्ग मन्दिर में से ही है।

जिसप्रकार सरकस में झूले पर झूलती हुई लड़की झूले से चूक जाये तो जाली पर गिरती है, किन्तु गिरकर वह हर्षित नहीं होती; अपितु खेद-खिन्न होती है। गिरना उसे कोई गौरव की बात नहीं लगती, बल्कि शर्म महसूस होती है; लेकिन जमीन पर गिरने से तो मौत ही होगी, अतः जान बचाने के लिये जाली बाँधते हैं, विश्राम करने के लिये नहीं; उसीप्रकार अपने स्वभाव के झूले से गिरें तो शुभभाव की जाली पर आते हैं; क्योंकि अशुभभाव की कठोर भूमि पर गिरना तो साधक की मौत है, अशुभभाव में तो साधुता ही खण्डित हो जाती है। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि के शुभाशुभ दोनों ही प्रकार के भावों का अस्तित्व है, किन्तु ज्ञानी को शुभ की चाह नहीं

है। ज्ञानी के तो एकमात्र कषायरहित, शुभाशुभभावरहित अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की व वीतरागभावरूप धर्म की भावना होती है।

पुण्य और धर्म – ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं –

(१) धर्म तो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, और शुभभावरूप पुण्य परिणाम 'पर' के आश्रय से होता है, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से, तथा दया, दान और अहिंसक सदाचारी जीवन जीने से होता है।

(२) धर्म आत्मा का शुद्धभाव है, और पुण्य अशुद्धभाव है।

(३) धर्म का फल मोक्ष है और पुण्य का फल संसार है।

(४) धर्म आत्मा की निर्दोष, निर्विकारी एवं निर्मल पर्याय हैं और पुण्य सदोष, विकारी पर्याय है।

(५) धर्म से आत्मा को सच्चे सुख की प्राप्ति होती है, और पुण्य से आकुलताजनक, नाशवान, क्षणिक, अनुकूल संयोग मिलते हैं, जो वियोग होने पर महादुःख के कारण बनते हैं।

(६) धर्म वीतरागभाव और पुण्य रागभाव है।

(७) पुण्य तो यह जीव अनादिकाल से करता आ रहा है, किन्तु धर्म अनादिकाल से आज तक एकसमय मात्र को भी नहीं किया।

(८) पुण्य से बाह्य जड़ लक्ष्मी (धूल) मिलती है, जबकि धर्म से अन्तरंग केवल ज्ञान लक्ष्मी प्रकट होती है।

(९) पुण्य तो विभाव है, उससे संसार परिभ्रमण नहीं मिटता – धर्म आत्मानुभूति स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप है, उसे मोक्षमार्ग कहो, संवर कहो, धर्म कहो, रत्नत्रय कहो अथवा आत्म-शान्ति का उपाय कहो – सब एक ही बात है। धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, आत्मा का धर्म आत्मा में से ही प्रगट होता है।

आगम में नवतत्त्व कहे हैं। उनमें संवर और निर्जरा तत्त्वों में धर्म का समावेश होता है, किन्तु अज्ञानी जन पुण्य (आस्रव-बंध) से धर्म मानते हैं। वे पुण्य तत्त्व व संवरनिर्जरा तत्त्वों को एकमेक करते हैं, मिलाते हैं।

ऐसे लोग वास्तव में नवतत्त्वों को ही नहीं समझे हैं; अतः जो धर्म करना चाहते हैं, सुखी होना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम इन नवतत्त्वों को यथार्थ समझकर पुण्य और धर्म का रहस्य एवं अन्तर समझना ही होगा।

इस पुण्य व धर्म के रहस्य को जानकर पहिचान कर आस्रव को आस्रव एवं संवर को संवर के रूप में श्रद्धान करने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सप्त तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान बिना व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है, अतः पुण्य-पाप का यथार्थ ज्ञान होना अति आवश्यक है।

इस संदर्भ में बनारसीदास के समयसार नाटक का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है, वे कहते हैं – मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोगरूप धर्म ही उपादेय हैं

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,

अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।

कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,

वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है॥

ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,

आत्म धर्म में करम त्याग-जोग है।

भौ-जल-तरैया राग-द्वेषकौ हरैया,

महा मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है॥७॥

ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि में कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, यदि आत्म-स्वभावरूप धर्म की दृष्टि से देखें तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। भगवान वीतरागदेव ने दोनों को बंध की परिपाटी बतलाया है, आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग रूप धर्म ही संसार-समुद्र से तारनेवाला, राग-द्वेष नष्ट करनेवाला और परमपद का देने वाला है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि राग-द्वेष-रहित वीतरागता ही धर्म है।

शिष्य प्रश्न करता है, गुरु उसके प्रश्नों का समाधान करते हैं –

शिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ-सुभ,

कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।

मोख के सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
 तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है ॥
 कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
 ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है ।
 निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
 और दौर धूप पुद्गल परछांही है ॥८॥

शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ-अशुभ क्रिया का निषेध किया सो मेरे मन में सन्देह है, क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी अणुव्रती श्रावक वा महाव्रती मुनि भी तो निरावलंब नहीं होते। वे भी तो व्रत, संयम तप आदि शुभक्रिया में करते ही हैं।

श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म की निर्जरा अनुभव के अभ्यास से हैं, सो वे अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं, राग-द्वेष-मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्षरूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्गल जनित है।

शुभक्रिया व्रत समिति आदि आस्रव ही हैं, इनसे साधु व श्रावक की कर्म-निर्जरा नहीं होती, निर्जरा तो आत्मानुभव से होती है।

मुनि एवं श्रावक की दशा में बंध और मोक्ष दोनों हैं -

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
 बंधमई करतूति कही है ।
 जावतकाल बसै जहाँ चेतन,
 तावत सो रस रीति गही है ॥
 आतमकौ अनुभौ जबलौं,
 तबलौं सिवरूप दसा निबही है ।
 अंध भयौ करनी जब ठानत,
 बंध विथा तब फैल रही है ॥९॥

१. चिनमूरति = आत्मा। करतूति = शुभाशुभ विभाव परिणति। जावत काल = जितने समय तक। तावत = तब तक। निबही = रहती है। अंध = अज्ञानी। विथा (व्यथा) = दुःख।

आत्मा सदैव अबंध है और क्रियाबंधमय कही है, सो जितने समय तक जीव आत्म-अनुभव में लीन रहता है तब तक अबंधदशा रहती है, परन्तु जब स्वरूप से चिगकर क्रिया में लगता है तब बंध का प्रपंच बढ़ता है।

स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता और विभाव का प्रतिक्षण अभाव होता है, वीतरागी धर्म आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का निर्मल परिणाम है, वह सदैव एक रूप ही रहता है उसका कभी भी पुनः विभाव रूप परिणमन नहीं होता और पुण्य आत्मा का विभाव भाव है, वह सदा एकरूप नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस अपेक्षा भी पुण्य और पाप में मौलिक अन्तर है।

पुण्य में धर्म की भ्रान्ति होने का एक मुख्य कारण यह है कि आगम में भी कहीं-कहीं पुण्य कार्य या शुभ भावों को व्यवहार से धर्म कह दिया गया है। तथा जब जब धर्म की चर्चा चलती है तब प्रवचनकार वक्ताओं द्वारा भी पुण्य करने की प्रेरणा ही अधिक दी जाने लगती है।

दसधर्मों या धर्म के दस लक्षणों के प्रतिपादन में तो अधिकांश ऐसा होता है। दसलक्षण धर्म की पूजा में भी अधिकांश ऐसा हुआ है।

सत्यधर्म की पूजा में सत्यधर्म का ही प्रतिपादन होना चाहिए था; किन्तु सत्यवचन की प्रेरणा देते हुए वहाँ कहा गया है कि -

“कठिन-वचन मत बोल, परनिन्दा अर झूठ-तेज,
 साँच जबाहर खोल, सतवादी जग में सुखी ।
 पूरे पद्य में शुभभाव रूप व्रत पालन करने का वर्णन है। जैसे -
 “उत्तम सत्यविरत पालीजे, पर विश्वास घात नहि कीजे,
 साँचे-झूठे मानुष देखे, आपन पूत स्व-पास न पेखे ॥”

इसीप्रकार त्यागधर्म के प्रकरण में दान के भेद गिनाते हुए सम्पूर्ण छन्द में दान करने की प्रेरणा दी गई है।

संयमधर्म तथा तपधर्म के प्रकरण में भी संयम एवं तप के जो १२-१२ भेद गिनाये उनमें भी पुण्य कार्य करने की बात ही कही गई है।

पुण्य की या शुभ की चर्चा करना या प्रेरणा देना गलत नहीं है, देना ही चाहिए; परन्तु साथ में धर्म की व्याख्या स्पष्ट करते हुए दोनों में अन्तर भी स्पष्ट करते जाना चाहिए ताकि दोनों में मिलावट नहीं हो, भले ही पुण्य धर्म नहीं है; परन्तु भूमिकानुसार पुण्य कार्य भी होंगे ही। भजन, स्तुति, पूजा-पाठ लिखते समय कविगण स्थूल कथन ही कर देते हैं, और भक्ति भावनावश उपचार कथन में ऐसा चल जाता है; अतः इसे इसी अभिप्राय से लेना चाहिए। तथा पाप से बचने के लिए और परमात्मा बनने के लिए देव-शास्त्र-गुरु की शरण में तो आना ही होता है जो कि शुभभाव ही है।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि आत्मा में स्वभाव और विभाव रूप से दो प्रकार की परिणति होती है। स्वभाव परिणति तो वीतराग भाव रूप है और विभाव परिणति राग-द्वेष रूप है। इन राग व द्वेष में द्वेष तो सर्वथा पापरूप ही है, परन्तु राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। प्रशस्त राग पुण्य हैं और अप्रशस्त राग पाप हैं। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के पहले स्वभाव भाव का उदय ही नहीं होता, अतः मिथ्यात्व की दशा में जीव की शुभ या अशुभ रूप विभाव परिणति ही होती है तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद कर्म का सर्वथा अभाव होने तक स्वभाव एवं विभाव दोनों परिणतियाँ रहती हैं। उनमें स्वभाव परिणति संवर-निर्जरा और मोक्ष की जननी है और विभाव परिणति संसार के कारणभूत कर्म बंध करती है।

कहा भी है - “जावत शुद्धोपयोग पावत ना ही मनोग।

तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी ॥

जबतक शुद्धोपयोग रूप वीतराग दशा नहीं हो जाती, तबतक मुक्ति के मार्ग पुण्यकार्य करने योग्य हैं - ऐसा आचार्य कहते हैं परन्तु ज्ञानी पुण्य और धर्म के अन्तर को स्पष्ट जानते हैं, उनमें मिलावट नहीं करते।



आध्यात्मिक पंच सकार : सुखी होने का सूत्र

जैसे पेट दर्द से पीड़ित व्यक्ति को चतुर वैद्य सर्वप्रथम उसके पेट शोधन के लिए सोंफ, सोंठ, सनाय, सेंधा और सौंचा (काला) नमक - इन पाँच वस्तुओं से बना ‘पंच सकार’ चूर्ण देता है - उसीप्रकार भवताप से पीड़ित प्राणियों का दुःख-दर्द मिटाने के लिए भी आत्म-विकार शोधक एक नुस्खा है, जिसका नाम है आध्यात्मिक पंच सकार।

आत्म-शोधन करनेवाले ‘आध्यात्मिक पंच सकार’ चूर्ण के प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर भी ‘स’ से शुरू होता है और संख्या में भी पाँच हैं। अतः इसका भी पंच सकार नाम सार्थक है - नुस्खा निम्नप्रकार है -

(१) संयोग (२) संयोगी भाव (३) स्वभाव (४) स्वभाव के साधन और (५) सिद्धत्व। इस पंच सकार के गुणधर्म एवं उपयोग करने का सही विधि-विधान जानना जरूरी है। अन्यथा इसके गलत उपयोग से भवरोग के साथ निरन्तर भावमरण होते रहने की संभावना बढ़ सकती है।

उपर्युक्त संयोगादि पंच सकारों में निम्नांकित सुखदायक-दुःखदायक आदि पाँच बोल घटित करने से पाँच भवतापहारी महासिद्धान्त फलित होते हैं। वे पाँच बोल निम्न प्रकार हैं -

(१) सुखदायक एवं दुःखदायक (२) हेय, ज्ञेय एवं उपादेय (३) चार काल :- सादि-सान्त, अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त एवं अनादि-सान्त (४) पाँच भाव :- उपशम, क्षय, क्षयोपशम, औदयिक एवं पारिणामिक, (५) सात तत्त्व :- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष।

अब प्रश्नोत्तरों द्वारा एक-एक को घटित करते हुए बताते हैं :-

(१) सर्वप्रथम संयोग पर उक्त पाँचों बोल घटित करते हैं :-

प्रश्न :- संयोग सुखदायक है या दुःखदायक?

उत्तर :- समस्त संयोग परद्रव्य हैं और परद्रव्यों में न सुख हैं; न दुःख हैं; अतः संयोग न सुखदायक है, न दुःखदायक। जिसके पास जो होता है, वही तो दे सकता है। जब संयोगों में सुख-दुःख हैं ही नहीं, तो वे सुख-दुःख देंगे कहाँ से? अतः यह निश्चय हुआ कि संयोग न तो सुखदायक हैं, न दुःखदायक।

प्रश्न :- संयोग हेय है, ज्ञेय है या उपादेय?

उत्तर :- जो दुःखदायक होता है वह हेय होता है, जो सुखदायक होता है उपादेय होता है, जब यह निर्णय पहले प्रश्न में ही हो चुका है कि संयोग सुख व दुःखदायक नहीं है तो यह स्पष्ट ही है कि सभी संयोग मात्र ज्ञेय हैं, हेय-उपादेय नहीं।

प्रश्न :- संयोग सादि-सान्त हैं या अनादि-अनन्त?

उत्तर :- सभी परद्रव्य अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, इस दृष्टि से संयोग अनादि अनन्त ही हैं। अतः उन्हें नाश करने या मिटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। लोक के द्रव्य तो लोक में ही रहेंगे। हमें उनसे कुछ हानि-लाभ ही नहीं है, तो फिर हमें उनसे क्या लेना-देना है। जिन परद्रव्यों का संयोग जीव से हुआ है, वे सादि-सान्त हैं, अतः उन्हें निरर्थक जानकर छोड़ा जा सकता है, अतः उन्हें छोड़ देना है।

प्रश्न :- संयोग सात तत्त्वों में कौन सा तत्त्व है?

उत्तर :- अजीव तत्त्व है। अचेतन संयोग तो अजीव हैं ही, अन्य जीव भी मेरी अपेक्षा अजीव ही हैं; क्योंकि अन्य जीव के ज्ञान व सुख से हम ज्ञानी व सुखी नहीं हो सकते। जैसे दूसरे की आँख से हम देख नहीं सकते, उसीतरह अन्य के ज्ञान से जान नहीं सकते।

प्रश्न :- अचेतन संयोगों में सुख गुण नहीं है, परन्तु चेतन संयोगों में तो सुख गुण है न? फिर उन्हें सुखदायक क्यों नहीं कहा?

उत्तर :- (१) यद्यपि चेतन संयोगों में जो सुख गुण है, परन्तु प्रथम तो उसका हस्तांतरण नहीं हो सकता (२) दूसरे, उसके पास आवश्यकता से

अधिक नहीं है, जो दूसरों को दे सके। तथा (३) अपने पास भी वह सुख किसी से कम नहीं है, मात्र पहचानने की देर है। अतः चेतन संयोगों से सुख की अपेक्षा ही नहीं है।

(२) संयोगी भाव के साथ भी उक्त सुखदायक, दुःखदायक आदि पाँच बोल घटित करके उनकी हेयोपादेयता पर विचार करते हैं।

प्रश्न :- संयोगीभाव हेय हैं या उपादेय?

उत्तर :- हेय हैं, क्योंकि दुःखदायक हैं।

प्रश्न :- क्या संयोगीभाव भी संयोगों की तरह अनादि-अनन्त हैं?

उत्तर :- नहीं, ये तो सादि-सान्त हैं, क्योंकि ये परिणमनशील पर्यायें हैं, अभी पैदा हुए हैं और एक क्षण बाद समाप्त होने वाले हैं। हाँ, अनादि सन्तान क्रम से चले आ रहे, इस अपेक्षा से इन्हें अनादि-सान्त भी कह सकते हैं; परन्तु फिर भी चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि जो सादि-सान्त या अनादि-सान्त हैं, वे सब अगले क्षण स्वयं ही नष्ट होनेवाले हैं।

प्रश्न :- पाँच भावों में संयोगीभाव कौनसा भाव है?

उत्तर :- औदयिक भाव हैं, कर्माधीन है, विकारी है।

प्रश्न :- सात तत्त्वों में संयोगीभाव कौन से तत्त्व हैं?

उत्तर :- आस्रव-बन्ध तत्त्व हैं, जो कि दुःख के कारण हैं।

(३) अब 'स्वभाव' नामक बोल पर-सुखदायक, दुःखदायक आदि पाँचों बोलों को घटित करते हैं।

प्रश्न :- स्वभाव सुखदायक हैं या दुःखदायक?

उत्तर :- वैसे तो स्वभाव सदा सुखस्वरूप है, परन्तु उसे सुखदायक भी कहा जा सकता है; क्योंकि स्वभाव के आश्रय से ही पूर्ण सुख की प्राप्ति पर्याय में प्रगट होती है।

प्रश्न :- स्वभाव हेय है या उपादेय?

उत्तर :- उपादेय, क्योंकि स्वभाव के आश्रय से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न :- स्वभाव सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त?

उत्तर :- स्वभाव अनादि-अनन्त है, क्योंकि स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता, बदलता नहीं है, सदा एक रूप रहता है।

प्रश्न :- स्वभाव पाँच भावों में कौनसा भाव है?

उत्तर :- स्वभाव पारिणामिकभाव है, निर्विकारी है।

प्रश्न :- स्वभाव सात तत्त्वों में कौन सा तत्त्व है?

उत्तर :- स्वभाव जीवतत्त्व है, अर्थात् यह द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से भिन्न त्रिकाल शुद्ध, ज्ञानानन्दमय, ध्रुवस्वभावी है। अतः यही एकमात्र सदा ध्यान करने योग्य है।

(४) अब 'स्वभाव के साधन' नामक बोल पर सुखदायक, दुःखदायक आदि पाँच बोलों को घटित करते हैं।

प्रश्न :- स्वभाव के साधन सुखदायक हैं या दुःखदायक?

उत्तर :- सुखदायक, क्योंकि साधन सदा साध्य के अनुरूप ही होते हैं। जब स्वभाव सुखदायक है तो उसके साधन भी सुखदायक ही होंगे। दुःखदायक साधनों से सुखदायक साध्य की सिद्धि संभव नहीं है। स्वभाव के साधन संवर-निर्जरा तत्त्व हैं, जो प्रगट सुखदायक ही हैं।

प्रश्न :- स्वभाव के साधन हेय हैं या उपादेय?

उत्तर :- एकदेश उपादेय, क्योंकि जबतक स्वभाव की सिद्धि नहीं हो जाती, तब तक साधन उपादेय रहते हैं। अतः इन्हें एकदेश या आंशिक रूप से उपादेय कहा जाता है। अन्ततोगत्वा स्वभाव की सिद्धि होने पर ये साधन स्वयं साध्यरूप हो जाते हैं, इस कारण इन्हें हेय नहीं कहा जा सकता। संवर-निर्जरा तत्त्व तो धर्मरूप परिणाम हैं।

प्रश्न :- ये स्वभाव के साधन सादि-सान्त हैं या अनादि-अनन्त?

उत्तर :- सादि-सान्त हैं, क्योंकि मिथ्यात्व दशा में नहीं थे और सिद्धदशा में भी नहीं रहेंगे। ये तो हमारे आगंतुक मेहमान हैं।

प्रश्न :- स्वभाव के साधन पाँच भावों में कौन से भाव हैं?

उत्तर :- उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप तीनों भाव हो सकते हैं।

प्रश्न :- ये स्वभाव के साधन सात तत्त्वों में कौन से तत्त्व हैं?

उत्तर :- संवर-निर्जरा तत्त्व हैं।

(५) अब सिद्धत्व पर सुखदायक-दुःखदायक आदि पाँचों को घटित करते हैं।

प्रश्न :- सिद्धत्व सुखदायक है या दुःखदायक?

उत्तर :- सुखदायक, क्योंकि यह अष्टकर्म रहित आत्मा की पूर्ण निर्मल दशा है।

प्रश्न :- सिद्धत्व हेय है या उपादेय?

उत्तर :- उपादेय, क्योंकि यह सुखदायक है।

प्रश्न :- सिद्धत्वभाव सादि-सान्त है या सादि-अनन्त।

उत्तर :- सादि-अनन्त, क्योंकि प्रगट होने पर अनन्तकाल तक मलिनरूप परिणमन नहीं करते। एकरूप निर्मल ही रहते हैं। इस अपेक्षा सादि-अनन्त कहा जाता है।

प्रश्न :- यह पाँचों भावों में कौनसा भाव हैं?

उत्तर :- क्षायिकभाव।

प्रश्न :- सात तत्त्वों में कौनसा तत्त्व हैं?

उत्तर :- मोक्ष तत्त्व।

अभी तक संयोगादि पाँच बोलों में क्रम से सुखदायक आदि पाँच बोलों को घटित किया। इसीप्रकार सुखदायक आदि बोलों में संयोगादि के बोल भी घटित किये जा सकते हैं, जैसे कि :-

१. सुखदायक-दुःखदायक बोले में -

१. परद्रव्य होने से संयोग न सुखदायक है, न दुःखदायक।

२. संयोगीभाव विकारीभाव होने से दुःखदायक है।

३. स्वभाव सर्वथा सुखदायक है।

४. स्वभाव के साधन एकदेश सुखदायक हैं।

५. सिद्धत्व सर्वदेश (पूर्ण) सुखदायक है।

२. हेय-ज्ञेय-उपादेय के बोले में -

१. संयोग मात्र ज्ञेय है।
२. संयोगीभाव हेय हैं।
३. स्वभाव सर्वथा उपादेय हैं।
४. स्वभाव के साधन एकदेश उपादेय हैं।
५. सिद्धत्व सर्वदेश (पूर्ण) उपादेय हैं।

३. चार काल के बोल में -

१. संयोग अनादि अनन्त हैं, किन्तु उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।
२. संयोगीभाव सादि-सान्त हैं, अतः वे क्षणिक-नाशवान हैं।
३. स्वभाव अनादि-अनन्त हैं।
४. स्वभाव के साधन सादि-सान्त हैं।
५. सिद्धत्व सादि-अनन्त है।

४. पाँचभाव के बोल में -

१. संयोग पाँच भावों में कोई भाव नहीं है।
२. संयोगीभाव औदयिकभाव है।
३. स्वभाव पारिणामिकभाव है।
४. स्वभाव के साधन औपशमिक, क्षायोपशमिक क्षायिकभाव हैं।
५. सिद्धत्व क्षायिक भाव हैं

५. साततत्त्वों के बोल में -

१. संयोग अजीव है।
२. संयोगीभाव आस्रव-बन्धतत्त्व हैं।
३. स्वभाव जीव है।
४. स्वभाव के साधन संवर-निर्जरा तत्त्व हैं।
५. सिद्धत्व मोक्ष तत्त्व है।

नोट - इस विस्तृत लेख को सारांश में समझने व स्मरण रखने के लिए संलग्न चार्ट का अवलोकन करें। (कृपया पन्ना पलटें)

भवरोग निवारण रामबाण औषधि : पंच सकार

	१	२	३	४	५
पंच सकार में इन्हें घटित कीजिये → ↓	संयोग (परद्रव्य सारा जगत)	संयोगी भाव (रागादि विकारीभाव)	स्वभाव (त्रिकाली ध्रुव जीव तत्त्व)	स्वभाव के साधन (एकदेश अविकारी पर्याय)	सिद्धत्व (पूर्ण अविकारी दशा निर्मल पर्याय)
१. दो बोल					
● सुखदायक या न सुखदायक	न सुखदायक	-	सुखदायक	सुखदायक	सुखदायक
● दुःखदायक न दुःखदायक	दुःखदायक	दुःखदायक	-	-	-
२. तीन बोल					
● हेय	-	हेय	-	-	-
● ज्ञेय	ज्ञेय	-	-	-	-
● उपादेय	-	-	उपादेय	उपादेय	उपादेय
३. चार काल					
● सादि-सांत	-	सादि-सांत	-	सादि-सांत	-
● अनादि-अनंत	अनादि-अनंत	एक समय की पर्याय होने से	अनादि-अनंत	-	-
● सादि-अनंत	-	संतति अपेक्षा	-	-	सादि-अनंत
● अनादि-सांत	-	अनादि-सांत)	-	-	-
४. पाँच भाव					
● उपशम	-	-	-	उपशम भाव	-
● क्षय	-	-	-	क्षायिक भाव	क्षायिकभाव
● क्षयोपशम	कोई भाव नहीं	-	-	क्षयोपशम भाव	-
● औदयिक	-	औदयिक भाव	-	-	-
● पारिणामिक	-	-	पारिणा.भाव	-	-
५. सात तत्त्व					
● जीव	-	-	जीव तत्त्व	-	-
● अजीव	अजीव तत्त्व	-	-	-	-
● आस्रव	-	आस्रव	-	-	-
● बंध	-	बंध	-	-	-
● संवर	-	-	-	संवर तत्त्व	-
● निर्जरा	-	-	-	निर्जरा तत्त्व	-
● मोक्ष	-	-	-	-	मोक्ष तत्त्व

उपर्युक्त पाँच-पाँच बोलों को इसप्रकार घटित करने पर निष्कर्ष के रूप में निम्नलिखित पाँच महान सिद्धान्त निकलते हैं - →

निष्कर्ष के पाँच बोल

१. आज तक परद्रव्य ने मेरा भला-बुरा किया ही नहीं, क्योंकि न परद्रव्य सुखदायक हैं, न दुःखदायक। आज तक मैंने भी परद्रव्य का भला-बुरा नहीं किया, अतः उठाओ संयोगों पर से दृष्टि।
२. आज तक मैंने संयोगों पर दृष्टि रखकर, संयोगी भाव करके हानि का ही व्यवसाय किया है। यदि हानि नहीं करना हो तो उठाओ संयोगी भावों पर से दृष्टि।
३. घबराने की कोई बात नहीं है; क्योंकि वह हानि पर्याय में ही हुई है, ध्रुव स्वभाव में नहीं। तथा ध्रुव स्वभाव के आश्रय से उस हानि को मेट कर अनंत लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए सदैव स्वभाव का ही आश्रय व आराधना करने योग्य है।
४. हेय, ज्ञेय, उपादेय की दृष्टि से संयोग मात्र ज्ञेय हैं, संयोगीभाव हेय हैं और स्वभाव के साधन एकदेश उपादेय है तथा स्वभाव सर्वथा उपादेय हैं, अतः सब पर से दृष्टि हटाकर मात्र स्वभाव पर दृष्टि जमाओ।
५. सात तत्त्वों की दृष्टि से देखें तो **संयोग** अजीव तत्त्व हैं, अतः मात्र ज्ञेय हैं, **संयोगी भाव** आस्रव-बंध है, अतः हेय है, **स्वभाव** स्वयं जीवतत्त्व है, अतः उपादेय एवं ध्येय है। **स्वभाव के साधन** एकदेश उपादेय हैं। सिद्धत्व मोक्ष स्वरूप है। अतः यह भी उपादेय है, ध्येय है। इनका श्रद्धान और साधना करने से भवरोग से मुक्ति मिल जाती है।

सारांश यह है कि संयोग और संयोगी भाव सादि-सान्त हैं, इनका अभाव कर अनादि-अनन्त स्वभाव के आश्रय से अनादि सान्त-विभाव का अभाव करके सादि अनन्त सिद्ध पर्याय प्रगट की जा सकती है।



सर्वज्ञता, क्रमबद्धपर्याय और पुरुषार्थ

‘सर्व जानातीति सर्वज्ञः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है सबको जानने वाला। “सर्वज्ञ शब्द में जो सर्व शब्द है उसका तात्पर्य त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों से है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ है।” इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए षट्खण्डागम में निम्नांकित सूत्र है -

सई भयवं उप्पण्णणाणदरिसी...सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति। (प्रकृति अनुयोग द्वारा सूत्र ५२)

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार (गाथा ४७) में लिखते हैं - “जो ज्ञान युगपत सब आत्मप्रदेशों से तात्कालिक और अतात्कालिक विचित्र और विषम सब पदार्थों को जानता है। उस ज्ञान को क्षायिक ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न :- जीव नियत स्थान और नियत काल में स्थित होकर भी त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को कैसे जानता है? इस प्रश्न के उत्तर में द्रव्य स्वरूप का निर्देश करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है -

“नैगमादि नयों और उपनयों के विषयभूत भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त पर्यायों के तादात्म्य सम्बन्धरूप समुच्चय का नाम द्रव्य है। वह द्रव्य एक होकर भी अनेक हैं।”^१

इसका आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य वर्तमान पर्यायमात्र न होकर तीनों कालों की पर्यायों का पिण्ड है, इसलिए एक द्रव्य के ग्रहण होने पर

१. नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥

तीनों कालों की पर्यायों का ग्रहण हो जाता है तथा ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिए वह विवक्षित द्रव्य को जानता हुआ उसकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को जान सकता है।

जैसे दीपक स्वक्षेत्र में स्थित होकर भी क्षेत्रान्तर में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी भिन्न क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जानता है।

अमृतचन्द्र आचार्य देव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में मंगलाचरण करते हुए लिखा है कि - “वह परम ज्योति (केवलज्ञान) जयवन्त होओ, जिसमें दर्पणतल के समान समस्त पदार्थमालिका प्रतिभासित होती है। जैसे क्षेत्रान्तर में स्थित घटादि पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही क्षेत्रान्तर में स्थित घटादि पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं। अतएव जो ज्ञान क्रम और आवरण से रहित हो वह तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत जानता है।

ज्ञान के दो प्रकार हैं - ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। प्रत्येक ज्ञान जो ज्ञेयाकार परिणामित होता है उसकी अपेक्षा को गौण कर ज्ञान को मात्र सामान्यरूप से देखने पर वह ज्ञानाकार प्रतीत होता है। ज्ञेयाकाररूप परिणमन की दृष्टि से देखने पर वह ज्ञेयाकार प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि केवलज्ञान का जो प्रत्येक समय में परिणमन है वह तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयाकाररूप ही होता है। केवलज्ञान तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत जानता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि जिसने पूरी तरह से अपने आत्मा को जान लिया उसने सबको जान लिया। उसी को दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जिसने सबको पूरी तरह से जान लिया उसने अपने आत्मा को पूरी तरह से जान लिया।

जानना ज्ञान की परिणति है और वह परिणति ज्ञेयाकाररूप होती है, इसलिए अपने आत्मा के जानने में सबका जानना या सबके जानने में

अपने आत्मा का जानना आ ही जाता है। इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि सर्वज्ञ जानता तो सबको है पर वह तन्मय होकर नहीं जानता। उदाहरणार्थ एक ऐसे दर्पण को लीजिए जिसमें अग्नि की ज्वाला प्रतिबिम्बित हो रही है। आप देखेंगे कि ज्वाला उष्ण है, परन्तु दर्पणगत प्रतिबिम्ब उष्ण नहीं होता। ठीक यही स्वभाव ज्ञान का है। ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित तो होते हैं, पर ज्ञेयों से तन्मय न होने के कारण ज्ञान मात्र उन्हें जानता है, उनसे तन्मय नहीं होता।

स्वामी समन्तभद्र ने केवलज्ञान की इस महिमा को जानकर सर्वज्ञता की सिद्धि करते हुए आप्तमीमांसा लिखा है -

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (राम, रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी पुरुष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमान के विषय हैं। जो अनुमेय होते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे पर्वत में अग्नि को हम अनुमान से जानते हैं, किन्तु वह अग्नि अनुमान के विषय अर्थात् किसी के प्रत्यक्ष भी है। इससे सिद्ध होता है कि जो पदार्थ किसी के अनुमान के विषय होते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं।

चूँकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अनुमेय हैं। अतः वे किसी के प्रत्यक्ष भी है और जिसके वे प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है।

इस प्रकार उक्त अनुमान प्रमाण के बल से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर भी यह विचारणीय हो जाता है कि सर्वज्ञ कौन हो सकता है? इसका समाधान करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने बतलाया है कि जिसके ज्ञानावरणादि कर्म दूर हो गये हैं वह निर्दोष और निरावरण होने से सर्वज्ञ है, क्योंकि प्रत्येक जीव केवलज्ञानस्वभाव है, फिर भी संसारी जीव के अनादि काल से अज्ञानादि दोष और ज्ञानावरणादि कर्मों का सद्भाव पाया जाता है; किन्तु जब अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के मलों का क्षय हो जाता है

तब त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को जानने में समर्थ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या किसी आत्मा में सम्पूर्ण दोषों और आवरणों की सर्वथा हानि सम्भव है? इसके उत्तर में आचार्य समन्तभद्र आत्ममीमांसा के चतुर्थ श्लोक में कहते हैं कि किसी आत्मा में दोष (अज्ञान, राग, द्वेष और मोह) तथा आवरण (ज्ञानावरणादि कर्म) की पूर्ण हानि सम्भव है, क्योंकि दोष और आवरण की हानि में 'हीनाधिक्यन्द्री' (अतिशय) देखी जाती है। अतः कोई ऐसा पुरुष भी होना चाहिए जिसमें दोष और आवरण की सम्पूर्ण हानि हो। जिसप्रकार सोने को अग्नि में तपाने पर उसमें विद्यमान अशुद्धता आदि दोष और मल की हानि होकर वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार आत्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने पर आत्मा शुद्ध होकर उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि स्वाभाविक गुण पूर्णरूप से प्रगट हो जाते हैं।

आत्मा में दोष और आवरण की पूर्ण हानि और सर्वज्ञता की सिद्धि होने पर यह प्रश्न होता है कि अमुक आत्मा में दोष आवरण की पूर्ण हानि हो गई यह कैसे समझा जाय? इसके उत्तर में आचार्य समन्तभद्र उसी आत्ममीमांसा के छठवें श्लोक में लिखते हैं कि "जिसके उपदिष्ट वचनों में युक्ति और शास्त्र से बाधा न आवे, समझो वह निर्दोष है। तथा अमुक का वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी है - यह प्रमाण की कसौटी पर कसने से जाना जा सकता है। स्पष्ट है कि भगवान् अरिहन्त परमेष्ठी के वचनों में युक्ति और शास्त्र से बाधा नहीं आती। इससे ज्ञात होता है कि वे निर्दोष हैं और जो पूर्ण निर्दोष होता है वह सर्वज्ञ होता ही है।

सर्वज्ञता जैनधर्म का प्राण है। आगम और अनुभव से तो उसकी सिद्धि होती ही है। आचार्य समन्तभद्र ने युक्ति से भी सर्वज्ञता को सिद्ध कर दिया है। साथ ही उनके परवर्ती अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र और

अनन्तवीर्य आदि जितने भी दार्शनिक आचार्य हुए हैं उन्होंने भी दृढ़ता के साथ उसका समर्थन किया है।

सर्वज्ञ हैं और वह तीन लोक और त्रिकालीवर्ती समस्त ज्ञेयों को युगपत् जानता है यह उक्त कथन का सार है। वह वर्तमान और अतीत को पूरी तरह से जानता है और भविष्य को अनिश्चितरूप से जानता है ऐसा कथन करनेवालों ने वास्तव में सर्वज्ञ को ही स्वीकार नहीं किया। और जो सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करता वह अपने आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? नहीं कर सकता। अतः यदि हमें धर्म करना है तो सर्वज्ञ के स्वरूप और सत्ता को जानकर स्वीकार करना हमारी नियति है अन्यथा धर्म का प्रारंभ ही नहीं होगा।

सर्वज्ञता से क्रमबद्ध पर्याय का अत्यन्त घना सम्बन्ध है अतः क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप भी जानना ही होगा।

यद्यपि 'क्रमबद्धपर्याय' स्वतः संचालित अनादि-निधन सुव्यवस्थित विश्व-व्यवस्था का एक ऐसा सैद्धान्तिक नाम है; जो अनन्तानन्त सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में तो अनादि से है ही, उनकी दिव्यध्वनि से उद्भूत द्वादशांग वाणी में भी सर्वत्र विद्यमान है। इसे चारों अनुयोगों में सर्वत्र देखा, खोजा जा सकता है। बस, देखने के लिए निष्पक्ष शोधपरक दृष्टि चाहिए।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के शब्दों में यदि कहा जाए तो बापू! वाद-विवाद से पार पड़े, यह ऐसी वस्तु नहीं है। इसे समझने के लिए तो निष्पक्ष शोध-खोज परक दृष्टि की जरूरत है।

जैनदर्शन के इस मूलभूत सिद्धान्त पर हम मूल दिगम्बरों का सदियों से ध्यान ही नहीं था, जबकि यह जैनदर्शन का प्राण है; इसके बिना जैनदर्शन के अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है और सर्वज्ञता इसका ठोस आधार है। जनसाधारण की तो बात ही क्या कहें? न्यायशास्त्रों के विशेषज्ञों और उनमें भी सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण के अध्ययन/अध्यापन में

सतत लगे रहनेवाले अधिकांश न्यायविदों का भी इस ओर ध्यान नहीं गया। ज्ञानस्वभाव एवं ज्ञेयस्वभाव की स्वतंत्रता का इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है?

इसे सहज संयोग ही कहा जाएगा कि इस कलिकाल में सदियों से समय-समय पर दिगम्बर धर्म के मूलभूत विस्मृत सिद्धान्तों को पुनः प्रकाश में लाने का अधिकांश श्रेय जन्मजात गैर-दिगम्बरों (परिवर्तित दिगम्बरों) को ही मिला है।

अष्टसहस्री के कर्ता श्री विद्यानन्दि आचार्य से लेकर श्री कानजीस्वामी तक सदियों पुराना जैन-साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है। इस सदी में क्रमबद्धपर्याय जैसे क्रान्तिकारी परमशान्ति-दायक सिद्धान्त के उद्घाटक के रूप में श्री कानजीस्वामी को सदैव याद किया जाएगा।

यद्यपि स्वामीजी जन्मजात दिगम्बर जैन नहीं थे, परन्तु भली होनहार के कारण उन्हें दिगम्बर जैन आगम हाथ लग गया और उन्होंने अपने पूर्व संस्कार और वर्तमान पुरुषार्थ के बल से आगम में से जो जैनदर्शन के अनमोल सिद्धान्त निकाले; 'क्रमबद्धपर्याय' भी उनमें से एक सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने अपने १३ प्रवचनों के माध्यम से विस्तार से समझाया है, जिसके पुस्तकाकार प्रकाशन का नाम 'ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव' है।

जैनदर्शन से सम्बन्धित होने से यहाँ इस विषय पर जिनागम के परिप्रेक्ष्य में सयुक्ति एवं सोदाहरण अनुशीलन अपेक्षित है।”

“क्रमबद्धपर्याय से आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत की परिणमन व्यवस्था क्रमनियमित है। जगत में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थितरूप से हो रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है, गहराई से विचार करने पर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है।”

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नहीं कहा गया है कि पर्यायें क्रम से होती हैं; अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रम में

होती हैं। आशय यह है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं – यह नियम है।

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है –

“जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है। इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।”

इसी क्रम में प्राचीन हिन्दी कवियों और टीकाकारों के द्वारा सशक्त भाषा में जो पद्य व गद्य में विचार व्यक्त किए गए हैं, मूलतः द्रष्टव्य हैं।

भैया भगवतीदास कहते हैं –

“जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यो ही, काहे होत अधीरा रे ।
समयो एक बढै नहिं घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे ।
तू क्यो सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यो हीरा रे ॥”

कविवर बुधजन ने भी बहुत ही सरल व सशक्त भाषा में क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के बल पर स्वयं को निर्भय होने की घोषणा की है। वे लिखते हैं -

“जा करि जैसे जाहि समय में, जो होतब जा द्वार ।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनों निरधार ॥”
हमको कछु भय ना रे!

उक्त प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मानकर भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है।

स्वामी कार्तिकेय ने तो ऐसी श्रद्धावाले को ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इसप्रकार नहीं माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहने में भी उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं हुआ। इसप्रकार हम देखते हैं कि ‘क्रमबद्धपर्याय’ की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु हैं।

सर्वज्ञ को धर्म का मूल कहा गया है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है। जब सर्वज्ञता हमारा लक्ष्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, उसे प्राप्त करने के लिए सारा यत्न है तो फिर उसके सच्चे स्वरूप को तो समझना ही होगा, उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

‘सर्वज्ञता’ और ‘क्रमबद्धपर्याय’ परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय व सच्ची समझ, दूसरे के निर्णय के साथ जुड़ी हुई है। दोनों का निर्णय ही सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मा के अनुभव के सम्मुख होने के साधन है।

जिन्हें क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ निष्क्रिय अथवा लुप्त होता दिखता है, उन्हें पुरुषार्थ की परिभाषा और स्वरूप का जैनदर्शन के आलोक में पुनर्वालीकन करना होगा।

लौकिक पुरुषार्थ से जैन दर्शन के अनुसार की गई पुरुषार्थ की व्याख्या ही जुदी है। जैसे कि लोक में येनकेन प्रकारेण धनार्जन करने को अर्थ

पुरुषार्थ कहते हैं जबकि जैनदर्शन इसे पुण्याधीन संयोग मानता है और धन में सुख-शान्ति नामक गुण ही नहीं है अतः इससे ममत्व त्याग करने का संदेश देते हुए उसे धूल मिट्टी का ढेर कहता है इसके विरुद्ध छह द्रव्यों के स्वरूप की समझ के प्रयत्न को एवं लोभ कषाय के संवरण को अर्थ पुरुषार्थ कहता है। ऐसा पुरुषार्थ सर्वज्ञ की श्रद्धा और क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ समझ से ही जागृत होता है। इस संदर्भ में कविवर बनारसीदास ने जो चारों पुरुषार्थों का स्वरूप लिखा है, वह मूलतः द्रष्टव्य है।

आत्मा के स्वभाव का निर्णय कहो या सर्वज्ञता का निर्णय कहो - दोनों एक ही हैं; क्योंकि आत्मा का जो ज्ञान स्वभाव है, वही सर्वज्ञ भगवान को सर्वज्ञ पर्याय के रूप में प्रगट हुआ है। इसलिए आत्मा का पूर्ण स्वभाव पहचानने से उसमें सर्वज्ञ की पहचान भी आ जाती है; और सर्वज्ञ को पहचानने तो उसमें आत्मा के स्वभाव की पहचान भी आ जाती है। सर्वज्ञ-भगवान ने प्रथम तो अपने पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा की और पश्चात् आत्मा में एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की। उस पूर्ण ज्ञान द्वारा सर्वज्ञ भगवान एक समय में सब कुछ जानते हैं। ऐसा जहाँ सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय किया वहाँ अपने में भी अपने रागरहित ज्ञान-स्वभाव का निर्णय हुआ।

जिसप्रकार जड़ में ‘अचेतनता’ है, उसमें अंशतः भी ज्ञातृत्व नहीं है; उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव है, उसमें ज्ञान परिपूर्ण है और अचेतनता बिल्कुल नहीं है। राग भी अचेतन के सम्बन्ध से होता है इसलिए राग भी ज्ञान-स्वभाव में नहीं है - ऐसे ज्ञान-स्वभाव का निर्णय और अनुभव करना ही धर्म का प्रारम्भ है।

प्रश्न :- सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जब धर्म का प्रगट होना ज्ञात होगा, उसीसमय आत्मा में धर्म प्रगट होगा, इससमय यह सब समझने की क्या जरूरत है?

उत्तर :- अरे भाई! ‘सर्वज्ञ भगवान ने सब कुछ देखा है और उसीप्रकार सब कुछ होता है’ - ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान का और वस्तु के स्वभाव का

निर्णय किसने किया? जो ज्ञान की पर्याय सर्वज्ञता का और वस्तु के स्वरूप का ऐसा निर्णय करती है वह ज्ञान पर्याय आत्मस्वभावोन्मुख हुये बिना नहीं रहती तथा उसे वर्तमान में ही धर्म का प्रारम्भ हो जाता है, और सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में भी वैसा ही ज्ञात हुआ होता है।

जिसने आत्मा के पूर्णज्ञान सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसमें एकता की, वास्तव में उसी को सर्वज्ञ के ज्ञान की प्रतीति हुई है। जो राग को अपना स्वरूप मानकर राग का कर्ता बनता है, और रागरहित ज्ञान-स्वभाव की जिसे श्रद्धा नहीं है उसे सर्वज्ञ के निर्णय की सच्ची मान्यता नहीं है, इसलिए सर्वज्ञ के निर्णय में ही ज्ञान-स्वभाव के निर्णय का सच्चा पुरुषार्थ आ जाता है और वही धर्म है।

लोगों को बाहर में भाग-दौड़ करने में ही पुरुषार्थ मालूम होता है, किन्तु अन्तर में ज्ञान-स्वभाव के निर्णय में, ज्ञातादृष्टापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है उसे बहिर्दृष्टि लोग नहीं जानते। वास्तव में ज्ञायकपना ही आत्मा का पुरुषार्थ है, ज्ञायकपने से पृथक् दूसरा कोई सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है।

अरे! मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव मोक्ष के पुरुषार्थ (प्रयत्न) पूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करेंगे - ऐसा ही सर्वज्ञभगवान ने देखा है। “जब भगवान ने देखा होगा तब मोक्ष होगा” - ऐसे यथार्थ निर्णय श्रद्धा में तो आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव का निर्णय भी साथ आ ही गया, और जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी आ गया। स्वभाव और पुरुषार्थ की श्रद्धा वाले की होनहार भी भली होती है और उसकी काललब्धि भी मुक्तिमार्ग पाने की निकट आ गई इस तरह जिसके चार-चार समवाय हो गये तो उसके निमित्त भी तदनुकूल मिल ही जाता है।

इसप्रकार सर्वज्ञता, क्रमबद्धपर्याय में सच्चा पुरुषार्थ जाग्रत होता है। सभी भव्य प्राणी सर्वज्ञता का निर्णय कर देव-शास्त्र-गुरु के सच्चे श्रद्धानी बनकर आत्मकल्याण करें - यही मंगल कामना है।



७

भक्तामर स्तोत्र : एक निष्काम भक्ति स्तोत्र

सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य में भक्तामर सर्वाधिक प्रचलित स्तोत्र है।

मुनि श्री मानतुङ्गाचार्य द्वारा रचित भक्तिरस से सरावोर यह अनुपम स्तोत्र युगों-युगों से कोटि-कोटि भक्तों का कण्ठाहार बना हुआ है। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर - सभी लोग इस स्तोत्र द्वारा प्रतिदिन वीतरागी परमात्मा की निष्काम स्तुति, भक्ति एवं आराधना करके अपने जन्म-जन्मान्तरों के पापों को क्षीण करते रहे हैं। लाखों माताएँ-बहिनें तो आज भी ऐसी मिल जायेंगी, जो भक्तामर का पाठ किये बिना जल-पान तक ग्रहण नहीं करतीं। इस काव्य के प्रति जन-सामान्य की इस अटूट श्रद्धा और लोकप्रियता के अनेक कारण हैं।

प्रथम, तत्त्वज्ञानियों की श्रद्धा का भाजन तो यह इसलिए है कि इसमें निष्काम भक्ति की भावना निहित है। ऐसा कहीं कोई संकेत नहीं मिलता है, जिसके द्वारा भक्त ने भगवान से कुछ याचना की हो या लौकिक विषय की वाञ्छा की हो।

जहाँ भय व रोगादि निवारण की चर्चा है, वह सामान्य कथन है, कामना के रूप में नहीं है। जैसे - कहा गया है कि ‘हे जिनेन्द्र ! जो आप की चरण-शरण में आता है; उसके भय व रोगादि नहीं रहते, सभी प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं।’^१ इसीप्रकार ‘जब परमात्मा की शरण में रहने से विषय का विष नहीं चढ़ता तो सर्प का विष क्या चीज है ? जब मिथ्यात्व का महारोग मिट जाता है तो जलोदरादि रोगों की क्या बात करें ?’

उपर्युक्त दोनों कथनों में याचना कहाँ है ? यह तो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है। जो जीव विषय-कषाय की प्रवृत्ति छोड़कर निष्काम भाव

से वीतराग परमात्मा के गुण-गान एवं आराधना करता है, उसकी मन्द कषाय होने से पाप स्वयं क्षीण हो जाते हैं एवं शुभभावों से सहज पुण्य बंधता है। पुण्योदय से बाह्य अनुकूल संयोग मिलते हैं और प्रतिकूलतायें स्वतः समाप्त हो जाती हैं। यह तो वस्तुस्थिति है। इसी वस्तुस्थिति या यथार्थ तथ्य का दिग्दर्शन कवि ने किया है।

जैसे फल से लदे वृक्ष के नीचे जो जायेगा, उसे फल तो मिलेंगे ही, न चाहते हुए भी छाया भी सहज उपलब्ध होगी। उसीप्रकार वीतराग देव की शरण में वीतरागता की उपलब्धि के साथ पुण्यबंध भी होता ही है। कभी-कभी धर्मात्माओं को पूर्व पापोदय के कारण प्रतिकूलता भी देखी जाती है; तब भी ज्ञानी खेद नहीं करते और भक्तिभावना के प्रति अश्रद्धा भी नहीं करते, क्योंकि वे निर्वाञ्छक धर्माराधना करते हैं और वस्तुस्वरूप को सही समझते हैं।

दूसरे, साहित्यिक रुचिवाले इस काव्य की साहित्यिक सुषमा से प्रभावित और आकर्षित होते हैं; क्योंकि इसकी सहज बोधगम्य भाषा, सुगमशैली, अनुप्रासादि अलंकारों की दर्शनीय छटा, वसन्ततिलका जैसे मधुरमोहक गेय छन्द, उत्कृष्ट भक्ति द्वारा प्रवाहित शान्त रस की अविच्छिन्न धारा - इन सबने मिलकर इस स्तोत्र को जैसी साहित्यिक सुषमा प्रदान की है, वैसी बहुत कम स्तोत्रों में मिलती है। इन सबके सुमेल से यह काव्य बहुत ही प्रभावशाली बन गया है।

तीसरे, लौकिक विषय वांछा की रुचिवालों को भी मंत्र-तंत्रवादी युग ने इसके प्रत्येक काव्य को आधार बनाकर विविध प्रकार के मंत्रों-तंत्रों द्वारा नानाप्रकार की रिद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होने की चर्चायें कर दी हैं। कल्पित कथाओं द्वारा चमत्कारों को भी खूब चर्चित कर दिया है।

संभव है तत्कालीन परिस्थितियों में इन मंत्रों-तंत्रों की कुछ उपयोगिता एवं औचित्य रहा हो, पर आज तो कतई आवश्यकता नहीं है; तथापि आज वह भी इसकी लोकप्रियता का एक कारण बना हुआ है।

भक्ति और स्तोत्र के स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए यदि भक्तामर स्तोत्र की विषयवस्तु पर विचार किया जाय तो स्तोत्रकार ने इस स्तोत्र द्वारा अपने इष्टदेव-वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की आराधना करते हुए भक्तिवशात् व्यवहारनय से उनमें कर्तृत्व की भाषा का प्रयोग तो किया है, किन्तु किसी भी छन्द में कहीं कोई याचना नहीं की, मात्र निष्काम भाव से गुणगान ही किया है।

वीतरागी परमात्मा में कर्तृत्व का आरोप यद्यपि विरोधाभास-सा लगता है, तथापि स्तोत्र साहित्य में ऐसे प्रयोग हो सकते हैं; क्योंकि स्तवन या स्तोत्र की परिभाषा या स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने लिखा है - “भूताभूतगुणोद्भावनां स्तुतिः” अर्थात् आराध्य में जो गुण हैं और जो गुण नहीं हैं, उनकी उद्भावना का नाम ही स्तुति है। इसीप्रकार की स्तुतियों या स्तोत्रों में परम वीतराग अरहंतदेव को सुखों का कर्ता या दुःख का हर्ता कह देना उन्हें सिद्धि या मोक्षदाता कह देना, उनके साथ स्वामी-सेवक संबंध स्थापित करना, उन्हें भक्तों को तारने का कर्तव्य-बोध कराना, उपालंभ देना, दीनता-हीनता प्रगट करना आदि कथन पाये जाते हैं।

वस्तुतः ऐसे औपचारिक उद्गार यदि भक्त की यथार्थ श्रद्धा और विवेक को विचलित नहीं करते तो स्तोत्र की दृष्टि से निर्दोष ही कहे जायेंगे, किन्तु केवल भक्ति की विह्वलता और भावुकता में ही ऐसे उद्गारों का औचित्य है। विचारकोटि में आने पर वीतरागता के साथ इनका मेल नहीं बैठता। भक्ति में जैसा वाणी से बोले वैसा ही मान ले, तो वह मान्यता यथार्थ नहीं है।

भक्ति एक त्रिमुखी प्रक्रिया है, इसके तीन बिन्दु होते हैं - भक्त, भगवान और भक्ति। इसमें भक्त और भगवान के बीच संबंध जोड़नेवाले प्रशस्त राग की मुख्यता रहती है। जब भक्त अपने आराध्य वीतरागीदेव के यथार्थ स्वरूप को जानता है, पहचानता है तो उसके हृदय में उनके प्रति सहज अनुराग उत्पन्न होता है। इस प्रशस्त गुणानुराग को ही भक्ति कहते हैं।

उस भक्ति में लौकिक स्वार्थसिद्धि की गन्ध नहीं होती, किसी फल की आशा नहीं होती और भयकृत भीरुता भी नहीं होती।

भय, आशा और स्नेह व लोभ से या लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिए की गई भगवद्भक्ति तो अप्रशस्त राग होने से पापभाव ही है, उसका नाम भक्ति नहीं है।

गृहीत मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिए की गई भगवद्भक्ति तो अप्रशस्त राग होने से पापभाव ही है, उसका नाम भक्ति नहीं है।

यद्यपि गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव, जो लौकिक कार्यों की सिद्धि हेतु कुदेवादि की उपासना करते हैं, उनके कुदेवादि की उपासनारूप अज्ञान एवं गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के प्रयोजन से प्रथमानुयोग में या इसी शैली के अन्य शास्त्रों में इसप्रकार की भक्ति की भी कदाचित् सराहना हो सकती है, किन्तु उसकी आड़ में हमें अपने अज्ञान की सुरक्षा करना योग्य नहीं है।

अतः निःस्वार्थभाव से किया गया धर्म व धर्मायतनों के प्रति प्रशस्त एवं विशिष्ट अनुराग ही यथार्थ भक्ति की कोटि में गिना जा सकता है।

आगम में भी इस बात की पुष्टि में अनेक उल्लेख मिलते हैं, उनमें से कुछ प्रसिद्ध आचार्यों ने उल्लेख प्रमाणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत करते हैं -

(१) अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत संतों में और जिनवाणी में भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे भक्ति कहते हैं।^१

(२) अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना भक्ति है।^२

(३) जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुण-भेद जानकर उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव की भक्ति को व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति कही है।^३

१. “अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।” - सर्वार्थसिद्धि ६/२४/२३९

२. अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः - भगवती आराधना वि. ४७/१५९

३. “मोक्षवगयं पुरिसाणं गुणभेद जाणिऊण तेसिं पि”... - नियमसार गाथा १३५

(४) व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के पंचपरमेष्ठी की आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।^१

(५) “निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणरूप शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का जो भजन है, वह भक्ति है। आराधन - ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावक (क्षुल्लक ऐरावत) शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं।”^२

(६) निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति होती है।^३

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान का भक्त यह जानता है कि उसके इष्टदेव अरहन्तभगवान परमवीतरागी है, अतः वे किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते, न किसी से कुछ लेते-देते हैं।

वस्तु-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त में एवं कर्म-सिद्धान्त में भी किसी अन्य के भला-बुरा करने की व्यवस्था नहीं है; तथापि व्यवहारभक्ति में वीतरागी भगवान को भी सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता कहने का व्यवहार है।

(१) तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा भी है - “हे नाथ! नआपको पूजा से कोई प्रयोजन है और न निन्दा से, क्योंकि आप समस्त बैर-विरोध का परित्याग करके परम वीतराग हो गये हो, तथापि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापों से मुक्त करके पवित्र कर देता है।”^४

१. “भक्ति पुनः सम्पत्त भण्यते व्यवहारेण सराग सम्यग्दृष्टिनां पंचपरमेष्ठिचाराधनारूपा।” - समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका १७३/१७६/२४३

२. “निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भाजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति।”

- नियमसार तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ १३४

३. वीतरागसम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेतिं।

- समयसार तात्पर्यवृत्ति, १७३/१७६/२४३

४. न पूजयार्थस्तुवयि वीतरागेः, न निन्दया नाथविवान्त वैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्तं दुरिताज्जनेभ्यः।।५७

- वासुपूज्य स्तुति, वृहत्स्वयंभू स्तोत्र

(२) कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं लिखते हैं -

“जो नित्य है, निरंजन है, शुद्ध हैं तथा तीनलोक के द्वारा पूजनीय हैं - ऐसे सिद्ध भगवान मुझे ज्ञान-दर्शन व चारित्र में श्रेष्ठ भाव की शुद्धता दो।”^१

इसीप्रकार और भी देखिये -

(३) तीर्थ और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो।^२

(४) तीनों लोकों के गुरु और उत्कृष्टभाव के अद्वितीय कारण हे जिनवर! मुझ दास के ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जावे। हे देव ! आप कृपा करके मेरे जन्म (संसार) को नष्ट कर दीजिए यही एक बात मुझे आपसे कहनी है, चूँकि मैं इस संसार से अतिपीड़ित हूँ, इसलिए मैं बहुत बोल गया हूँ”^३ इत्यादि।

इसतरह हम देखते हैं कि व्यवहारनय द्वारा वीतरागी और सर्वथा अकर्ता भगवान के लिए कर्तृत्व की भाषा का प्रयोग व्यवहारनय से असंगत नहीं है। जिनवाणी में ऐसे प्रयोग सर्वत्र हैं।

बोलचाल की भाषा में ऐसा कहना व्यवहार है; किन्तु जैसा कहा, उसे वैसा ही मान लेना मिथ्यात्व है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं - “यद्यपि वीतरागी परमात्मा को भी जिनवाणी में एवं स्तुति-पाठादि में पतितपावन, अधम-उधारक आदि विशेषण कहे हैं, सो फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो उनको निमित्तमात्र है, इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण

१. दितु वर भावशुद्धि दंसण णाणे चरित्तेय। - भावपाहुड़ १६३

२. पणमामि बद्धमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं। - प्रवचनसार, गाथा १

३. त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दन्दैककारणं कुरुष्व।

मयि किंकरोऽत्र करुणां यथा जायते मुक्तिः॥१॥

अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये।

तेनातिदग्ध इति मे देव वभूव प्रलापित्वम्॥६॥

- पद्मनन्दी पंचविंशति, करुणाष्टक

संभव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहंत ही स्वर्ग-मोक्ष के दाता नहीं हैं।^१

पण्डित श्री मिलापचन्द रतनलाल कटारिया ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है कि “मंत्र-तंत्रवादी भट्टारकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्र-तंत्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल और सराग बना दिया है, इसके निर्माण के संबंध में भी प्रायः मनगढ़ंत कथायें रच डाली हैं।

ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध और अस्वाभाविक हैं - यह विचारकों से छिपा नहीं है। किसी कथा में मुनि श्री मानतुङ्ग को राजा भोज का समयवर्ती बताया है तो किसी में कालिदास का तथा किसी में बाण, मयूर आदि के समय का बताया है, जो परस्पर विरुद्ध हैं।

राजा ने कुपित होकर मुनिश्री मानतुंग को ऐसे कारागृह में बन्द कर दिया, जिसमें ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के दरवाजे में एक-एक ताला था - ऐसा जो एक कथा में बताया है, यह भी विचारणीय है; क्योंकि प्रथम तो वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रादि नहीं, कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दण्ड दे सकता है ? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी संभव नहीं है। जिसमें एक के अन्दर एक - ऐसे ४८ कोठे हों। सही बात तो यह है कि ४८ छन्द होने से बिना सोचे-विचारे ४८ कोठे और ४८ तालों की संख्या लिख दी है, यदि छन्द कम-ज्यादा होते तो कोठे भी कम-ज्यादा हो जाते। श्वेताम्बर ४४ छन्द ही मानते हैं, अतः उन्होंने बन्धन भी ४४ ही बताये हैं। इसतरह उन कथाओं में और भी अनेकानेक विसंगतियाँ हैं, जो थोड़े से विचार से ही पाठक समझ सकते हैं।”^२

अड़तालीस ताले टूटने की कथा दिगम्बाराचार्यों की मान्यता नहीं है। ये किसी अन्य की मनगढ़ंत कल्पित कथा है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ २२२

२. जैन निबन्धरत्नावली, पृष्ठ ३३७

(५) दिगम्बरों के मतानुसार - “ग्यारहवीं सदी (लगभग १०२५ ई.) के दिगम्बराचार्य महापण्डित प्रभाचन्द्राचार्य ने ‘क्रियाकलाप’ ग्रन्थ की अपनी टीका की उत्थानिका में लिखा है कि मानतुङ्ग नामक श्वेताम्बर महाकवि को एक दिगम्बराचार्य ने महाव्याधि से मुक्त कर दिया तो उसने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा कि भगवन ! अब मैं क्या करूँ ? तब आचार्य ने आदेश दिया कि परमात्मा के गुणों को गूँथकर स्तोत्र बनाओ। फलतः मानतुङ्ग मुनि ने इस भक्तामर स्तोत्र की रचना की।^१”

भक्तामर स्तोत्र में जिनेन्द्र भगवान के रूप-सौन्दर्य का, उनके अतिशयों और प्रतिहार्यों का तथा उनके नाम-स्मरण के माहात्म्य से स्वतः निवारित भयों एवं उपद्रवों का अच्छा संतुलित वर्णन किया गया है। इसमें अनावश्यक पाण्डित्य प्रदर्शन से स्तोत्र को बोझिल नहीं होने दिया गया है और न ही समन्तभद्र की तरह तार्किकता एवं दार्शनिकता भी इसमें है। यद्यपि दार्शनिकता व तार्किकता के कारण समन्तभद्राचार्य के स्तोत्र उच्चकोटि के शास्त्र बन गये हैं, परन्तु वे दार्शनिकता के कारण भक्तामर की तरह प्रतिदिन पाठ करने के लिए जन-जन के विषय नहीं बन पाये। आचार्य समन्तभद्र की तार्किक बुद्धि और दार्शनिक चिन्तन उनके हृदयपक्ष पर हावी रहा, परन्तु इससे उनके स्तोत्रसाहित्य में भी यह विशेषता रही कि भावुकतावश होनेवाले कर्तृत्वादि के आरोपित कथन उनके स्तोत्रों में नहीं आने पाये।

देवागमस्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र एवं कल्याणमन्दिर स्तोत्र की भाँति ई इस स्तोत्र का नाम भी प्रथम छन्द के प्रथम पद के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। इसका दूसरा नाम आदिनाथ स्तोत्र या ऋषभस्तोत्र भी है। दूसरे नाम के संदर्भ में विचारणीय बात यह है कि मात्र ‘प्रथमं जिनेन्द्र’ और ‘युगादौ’ पदों से ही यह ‘आदिनाथ स्तोत्र’ भी कहा जाता है।

१. अनेकान्त अंक १९९६, पृष्ठ २४५

“यदि ‘प्रथमं जिनेन्द्र’ का अर्थ जिनेन्द्रों (अरहन्तों) में प्रमुख अर्थात् तीर्थकरदेव कर लिया जाय तथा युगादौ का अर्थ यह युग प्रथम तीर्थकर के जन्म से प्रारम्भ होता है, यह माना जाय तो यह सामान्यतया सभी तीर्थकरों या जिनेन्द्रों की स्तुति है। वैसे भी स्तोत्र में कहीं भी किसी भी तीर्थकर विशेष का नामादि परिचयसूचक कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।”^१

“भक्तामरस्तोत्र के काव्यों की संख्या में भी कुछ मतभेद हैं। केवल मन्दिर-मार्गी श्वेताम्बर जैन इस स्तोत्र की काव्य संख्या ४४ मानते हैं। शेष सभी दिगम्बर जैन, स्थानकवासी एवं तेरापंथी श्वेताम्बर आदि एक मत से ४८ काव्य ही मानते हैं। ४४ काव्यों के माननेवाले ३२ से ३५ तक चार काव्यों को नहीं मानते, इन्हें प्रक्षिप्त कहते हैं; परन्तु इससे उनके यहाँ चार प्रातिहार्यों का वर्णन छूट जाता है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी पूरे आठ प्रातिहार्य माने गये हैं।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी भक्तामर की तरह पूरे आठ प्रातिहार्यों का वर्णन है और उसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी अविकलरूप से मानता है। तब फिर भक्तामर के उक्त चार काव्यों को क्यों नहीं मानता ? सम्भव है, कल्याणमन्दिर स्तोत्र में ४४ ही काव्य हैं, अतः भक्तामर में भी ४४ ही होने चाहिए - इस विचार से ऐसा किया हो।”^२ अस्तु -

भक्तामरस्तोत्र के कर्ता मानतुङ्ग सूरि कौन थे, कब हुए ? ये विषय इतिहास की शोध खोज का विषय है। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक १० मानतुङ्ग सूरि हुए हैं, उनमें भक्तामर स्तोत्र के कर्ता कौन थे - यह कह पाना कठिन है।

इस स्तोत्र के कर्ता मानतुङ्ग कवि को कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्द्धन के समकालीन बताया है। चूँकि सम्राट हर्षवर्द्धन का समय ७वीं शताब्दी है, अतः मानतुङ्ग का समय भी ७वीं शताब्दी होना चाहिए।^३

१. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामर रहस्य की प्रस्तावना, पृष्ठ-२८

२. पं. रतनलाल कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ ३३८

३. वही, पृष्ठ-३३९

तथ्यों से पता चलता है कि भक्तामर के रचयिता मूलतः ब्राह्मण, धर्मानुयायी और कुकवि थे। बाद में अनेक परिवर्तनों के बाद दिगम्बर जैन साधु हो गये थे। उन्हीं ने यह भक्तामर काव्य बनाया है।^१”

“पाण्डे हेमराज कृत हिन्दी पद्यानुवाद तो सर्वाधिक प्राचीन, सर्वश्रेष्ठ व सरस रचना है ही, उन्होंने भक्तामर पर हिन्दी गद्य वचनिका (१६५२ ई.) भी लिखी थी तथा प्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान पं. जयचन्दजी छाबड़ा (१८१३ ई.) ने भी ‘भक्तामर चरित’ लिखा है और भी पण्डित घनराज आदि के प्राचीन पद्यानुवाद मिलते हैं।^२”

उपसंहार – प्रस्तुत लेख के माध्यम से हमने संक्षेप में भक्तामर का माहात्म्य, जनसामान्य में इसकी लोकप्रियता के कारण, इसकी विषय-वस्तु, आगम के आलोक में भक्ति-स्तुति का स्वरूप, व्यवहार भक्ति में परमात्मा में कर्तापन के आरोप का औचित्य, भक्तामर स्तोत्र पर विविध प्रकार के साहित्य का सृजन, भक्तामर के रचयिता मानतुङ्ग, उनका समय, काव्यों की संख्या, स्तोत्र का नाम, भक्तामर पर युग का प्रभाव आदि विविध विषयों का सामान्य परिचय कराने का प्रयास किया है। विशेष जानकारी के लिए यथास्थान संदर्भित टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

सभी लोग इस ग्रन्थ के द्वारा भक्ति का यथार्थ स्वरूप समझकर भक्त, भक्ति और भगवान की त्रिमुखी प्रक्रिया को अपने जीवन में साकार करके सच्चा सुख प्राप्त करें – इस पवित्र भावना के साथ विराम। ॐ नमः।



१. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामर रहस्य की प्रभावना, पृष्ठ-३६

२. अगरचन्द नाहटा (श्रमण, सितम्बर १९७०)



जिनागम के आलोक में विश्व की कारण-कार्य व्यवस्था

जगत का प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। द्रव्य के उस परिणमन को ही पर्याय या कार्य कहते हैं। कार्य बिना कारण के नहीं होता और एक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। उनमें कुछ कारण तो नियामक होते हैं और कुछ आरोपित। आरोपित कारण मात्र कहने के कारण हैं, उनसे कार्य निष्पन्न नहीं होता। उनकी कार्य के निकट सन्नधि मात्र होती है। जिनवाणी में कारणों की मीमांसा निमित्त व उपादान के रूप में की गई है।

पदार्थ की निज सहज शक्ति या मूल स्वभाव उपादान कारण है इसके तीन भेद होते हैं – १. त्रिकाली ध्रुव उपादान कारण २. अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती-पर्याय युक्त द्रव्य एवं ३. तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान। यह तीसरा कारण स्वयं कारण भी है और कार्य भी। ये कारण स्वयं कार्य के अनुरूप परिणमन करते हैं।

कार्य की उत्पत्ति के समय पर पदार्थों का जो परिणमन कार्य के अनुकूल होता है, उसे निमित्त कारण कहा जाता है। निमित्त कारण कार्योत्पत्ति में कुछ करते नहीं है। अतः इन्हें यथार्थ कारण नहीं माना जाता। आगम में इन्हें उपचरित या आरोपित कारण कहा जाता है। उदासीन व प्रेरक आदि सभी प्रकार के निमित्तकारण कार्योत्पत्ति में अकिंचित्कर ही हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि जब कोई भी निमित्त परद्रव्य या उसके परिणमन का किंचित् भी कर्ता नहीं है – सर्वथा अकिंचित्कर हैं तो फिर लोक इन्हें कर्ता क्यों कहता है ? कहता ही नहीं, मानता भी है। लोक को इनमें कर्तापने का भ्रम कहाँ से, क्यों और कैसे उत्पन्न होता है ?

निमित्तों में कर्त्तापने के भ्रम का मूल कारण यह है कि कार्योत्पत्ति के समय निमित्तों की अनिवार्यरूप से उपस्थिति-सन्नधि या सन्निकटता नियम से देखी जाती है। जब कोई कार्य होगा तो उसके निकट अनुकूल निमित्त अवश्य होंगे ही। अतः बार-बार ऐसा भ्रम हो जाता है कि ये संयोगी परपदार्थ भी सहायकरूप से कार्य के कर्त्ता अवश्य होने चाहिए, अन्यथा इनकी उपस्थिति का क्या औचित्य है ?

परन्तु वह उस समय इस बात को भूल जाता है कि कर्त्ता की परिभाषा तो आचार्यों ने यह कही है कि - “**यः परिणमति सः कर्त्ता**” अर्थात् जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है, वह उस कार्य का कर्त्ता होता है। उपादान ही स्वयं कार्यरूप परिणमता है अतः वही वस्तुतः कार्य का कर्त्ता है।

कार्य के अनुकूल संयोगी परपदार्थों की कार्योत्पत्ति के समय अनिवार्यरूप से उपस्थिति होने से एवं कार्य के अनुकूल होने से उन्हें कारण संज्ञा प्राप्त तो है, किन्तु वे कार्य के अनुरूप स्वयं परिणमन नहीं करते अतः वस्तुतः वे कर्त्ता नहीं हो सकते। जैसे - घटरूप कार्य में मिट्टी ने ही स्वयं घटरूप परिणमन किया है, अतः कर्त्ता की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार घट की कर्त्ता मिट्टी ही है, कुम्हार घट का कर्त्ता नहीं। हाँ, अनुकूल होने से कुम्हार, चक्र चीवर आदि को निमित्त कारण कहा जाता है।

एक ही समय में वही वस्तु जो पर के लिए निमित्त है, स्व के लिए उपादान भी है। निमित्त व उपादान कोई पृथक्-पृथक् सत्ताधारी पदार्थ नहीं है। वही कुम्हार का राग जो घट में निमित्त मात्र है, घट बनाने की इच्छारूप कार्य का उपादान भी है; क्योंकि वह राग परिणमन स्वयं इच्छारूप परिणमा है।

इसीप्रकार जीव अपने अज्ञान से सुख या दुःखरूप कार्य में स्वयं को निरभार परिणमता है अतः जीव ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है, कर्म

का उदय नहीं। अन्य माता-पिता, गुरुजन, स्त्री-पुत्र, मित्र या शत्रु तथा इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों ने भी स्वयं किसी के सुख या दुःखरूप परिणमन नहीं किया है। अतः ये सब भी किसी के सुख-दुःख के कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हो सकते। इनसे सुख-दुःख मानना अज्ञान है और यही अज्ञान राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल है। राग-द्वेष का अभाव कर सुखी होना हो तो निमित्त-उपादान या वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था को समझना ही होगा। सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि जीवों में परस्पर उपकार देखा जाता है। माता-पिता, गुरुजन तथा देव-शास्त्र-गुरु, दयालु पुरुष, इष्टमित्र निरन्तर भलाई चाहते हैं, उपकार करते हैं, उसे न मानना क्या यह कृतघ्नता नहीं होगी? यद्यपि आपका यह कहना सच है कि मित्र-शत्रु आदि निमित्तों को उपकारी-अनुपकारी मानने से राग-द्वेष की उत्पत्ति ही होती है, तथापि करें क्या ऐसा न मानने से तो सारा लोक व्यवहार ही बिगड़ जायगा और कृतज्ञता का भाव भी नहीं रह पायगा, इसका क्या होगा?

यह कोई समस्या नहीं है। यदि हमें निमित्त-उपादान, वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था तथा कर्त्ता-कर्म का सही स्वरूप समझ में आ जाय, इनकी यथार्थ प्रतीति हो जाय तो हम समताभाव को प्राप्त कर सच्ची शान्ति व सुख तो प्राप्त करेंगे ही। साथ ही जबतक जगत में है, तबतक जगत का व्यवहार और कृतज्ञता का भाव और भी अच्छे रूप में आयेगा-ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। देखो! जिस तरह इष्ट मित्र या परिजनों के चिर-वियोग हो जाने पर सभी को पूर्ण विश्वास है कि दिवंगत जीव हमारे रोने-बिलखने से जीवित नहीं होगा। और रोना आर्तध्यानरूप खोटा परिणाम है, असाता कर्म के बंध का कारण है; तथापि रोना आता ही है तथा जिस कन्या की शादी करने में विवाह आयोजन और दहेज आदि खर्च में सर्वस्व लुटा दिया हो, दिन-रात एक कर दिया हो, सगाई होते ही निर्भार हो गया हो, उस कन्या की विदा के समय भी रोना आये

बिना नहीं रहता। रोना आ ही जाता है। राग का ऐसा ही विचित्र प्रकार है अतः न तो कृतज्ञता का ही लोप होगा और न लोकव्यवहार ही बिगड़ेगा। हाँ, जैसे-जैसे चारित्र में वृद्धि होती है नीचे का व्यवहार छूटता जाता है और भूमिकानुसार ऊपर का व्यवहार आता जाता है। पूर्ण-वीतराग दशा में भी जब तीर्थकरों का भी हितोपदेशी होने का व्यवहार नहीं छूटता, और चार ज्ञान के धारी गणधर जैसे दिगम्बर मुनिराज के भी यथायोग्य व्यवहार होता है तो तेरा व्यवहार कैसे छूट जायगा?

यह तो ठीक है, किन्तु क्या प्रेरक-निमित्त भी कुछ नहीं करते? यदि नहीं, तो फिर इनका नाम प्रेरक निमित्त क्यों रखा गया?

धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य, इच्छा शक्ति से रहित अचेतन व निष्क्रिय होने से उदासीन निमित्त कहलाते हैं और जीवद्रव्य इच्छावान व क्रियावान होने से एवं पुद्गल द्रव्य केवल क्रियावान होने से प्रेरक निमित्त कहलाते हैं, किन्तु कार्योत्पत्ति में सभी परद्रव्य धर्मास्तिकाय की तरह उदासीन ही होते हैं। जैसे वर का सहचारी होने से नाई भी बराती कहा जाता है; वैसे ही कार्य के सहचारी होने से निमित्तों को भी कारण कहा जाता है, किन्तु ये वास्तविक कारण नहीं है।

निमित्तों को निमित्त के रूप में तो सभी ज्ञानियों ने स्वीकार किया है; किन्तु उनको कर्ता के रूप में किसी ने नहीं माना। निमित्तों को कर्ता निमित्त स्वयं नहीं मानते। समयसारादि ग्रन्थों के समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र जैसे ज्ञानी पुरुष स्वयं को टीका का निमित्त तो मानते हैं, किन्तु कर्ता नहीं। वे स्वयं कहते हैं :- “मुझे इस टीका का कर्ता कहकर मोह में मत नाचो तथा जड़-शास्त्रों का कर्ता कहकर जड़ की उपाधि मत दो, क्योंकि जड़ का कर्ता जड़ ही होता है।”

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने भी यही लिखा है -

“वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनसों नाहिं हमारो मेल ॥”
पण्डित बनारसीदासजी के विचार भी दृष्टव्य हैं। वे कहते हैं -

“एक कारज के कर्ता न दरब दोय।
दो कारज एक-द्रव्य न करतु है।”

अर्थात् एक कार्य के दो द्रव्य मिलकर कर्ता नहीं होते तथा एक द्रव्य एक साथ दो कार्य नहीं कर सकता। ऐसा नहीं होता कि अपना कार्य भी करता रहे और दूसरे द्रव्य का भी कर्ता बन जाय।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि एक साथ न सही, आगे-पीछे तो परद्रव्य का कार्य कर सकेगा या नहीं?

नहीं, यह भी संभव नहीं है; क्योंकि कोई भी द्रव्य कभी भी खाली नहीं है। प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय अपना परिणामनरूप कार्य करता ही रहता है। अतः परद्रव्यरूप परिणामन करके अन्य का कर्ता बनने का उसे अवकाश ही नहीं है तथा परद्रव्यरूप परिणामन करने की उसमें सामर्थ्य भी नहीं है। परद्रव्य अपने में इतना परिपूर्ण है कि उसे परद्रव्य के सहयोग की जरूरत या अपेक्षा ही नहीं है, एवं उसमें परद्रव्य से सहयोग लेने की क्षमता भी नहीं है। अतः एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानना संभव नहीं है।

प्रश्न :- इस तरह से तो ‘कृतज्ञता’ और ‘उपकार’ शब्द निरर्थक ही सिद्ध हो जायेंगे?

उत्तर :- नहीं, वे शब्द निरर्थक नहीं हैं; उनका अर्थ तो अपनी जगह बराबर है, वे पूर्ण सार्थक हैं, किन्तु उनके धर्म समझाने में हम ही कहीं चूक रहे हैं, लोक में ‘उपकार’ का अर्थ जो भलाई माना गया है, वह अपनी जगह ठीक हो सकता है, परन्तु मोक्षमार्ग के संदर्भ में उपकार का अर्थ इससे भिन्न है। शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, उन्हें प्रकरण के अनुसार समझना होगा। तत्त्वार्थसूत्र जैसे सर्वमान्य आगम ग्रन्थ में ‘उपकार’ का अर्थ निमित्त किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं जीवद्रव्य के परस्पर उपकार बताते हुए गति, स्थिति, अवगाहन, परिणामन हेतुता अर्थात् निमित्तपना बताया है तथा ‘जीव’ और पुद्गल के उपकारों में भी शरीर, वचन, मन, सुख, दुःख,

जीवन-मरण रूप उपकार बताये हैं। यहाँ उपकार का अर्थ निमित्त मानने में सबसे प्रबल हेतु यह है कि दुःख और मरण भलाई कैसे माने जा सकते हैं। तथा धर्म, अधर्मादि द्रव्यों में तो ज्ञान ही नहीं है, वे भलाई कैसे करेंगे। और निमित्तपना या हेतुता तो सब में समानरूप से है ही। सर्वार्थसिद्धि में भी निमित्त का अर्थ हेतुता ही किया गया है।

‘कृतज्ञता’ का अर्थ भी सीधा है। कृत+ज्ञ+ता=अर्थात् किये हुए कार्य का जानपना। कार्योत्पत्ति में कितना किसका सहकार व सहचरपना है - इसका यथार्थ ज्ञान कर लेना ही कृतज्ञता है। तभी निमित्त व उपादान को यथायोग्य आदर दिया जा सकेगा। अन्यथा जो कुछ भी नहीं करते, ऐसे निमित्तों को आवश्यकता से अधिक महत्व मिल जायेगा और जिसने अपना सर्वस्व समर्पण किया-ऐसा उपादान उपेक्षित रह जायगा। जैसा अभी अज्ञानियों द्वारा हो रहा है।

कक्षा में प्रथम स्थान पाने पर यद्यपि छात्र को ही प्रमाण-पत्र व प्रगति के अवसर मिलते हैं; परन्तु योग्य छात्र गुरुजी को सफलता का श्रेय दिये बिना नहीं रहता।

करणानुयोग पढ़कर कुछ व्यक्ति कर्मों को कर्त्ता मानने लगते हैं, जबकि वहाँ केवल निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराया गया है। कर्मों की आड़ में जो व्यक्ति अपना दोष कर्मों के माथे मढ़ना चाहते हैं, उन्हें सावधान करते हुए पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के सर्व विशुद्ध अधिकार छन्द ६२, ६३ में कहा है -

“कोऊ मूरख यों कहैं, राग दोष परिणाम।

पुद्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम॥

ज्यों-ज्यों पुद्गल बल करै, धरि-धरि कर्मज भेष।

राग दोष की परिणमन, त्यों-त्यों होइ विशेष॥”

अर्थात् कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेष के परिणमन पुद्गल कर्म की बलजोरी से होते हैं; किन्तु ऐसी बात नहीं है। इस प्रश्न के समाधान में

इसी के आगे कविवर बनारसीदासजी ही लिखते हैं -

“इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सदहै कोइ।

सो जन राग-विरोध सौं, कबहूँ भिन्न न होइ॥”

अर्थात् इसप्रकार विपरीत अर्थ ग्रहण करने वालों को कभी मोक्ष नहीं होगा तथा उनके कभी राग-द्वेष के नाश का प्रसंग नहीं आयेगा।

पण्डित टोडरमलजी कहते हैं - “आप तो महंत रहना चाहता है और अपना दोष कर्मों पर मढ़ता है सो ऐसी अनीति जिनधर्म में तो संभव नहीं है।”

अरे! जो परद्रव्य की सत्ता से ही इन्कार करते हैं, उन अद्वैतवादियों को सही मार्गदर्शन देने के लिए परद्रव्य (निमित्त) की अनिवार्यता पर जोर दिया है। उस कथन से अज्ञानी निमित्तों के कर्तृत्व का भ्रम पाल लेता है।

जिनवाणी के सूत्रों का सार और प्रयोजन एकमात्र वीतरागता है। तथा ‘निमित्तों से कार्य होता है’ - ऐसा मानने से निमित्तों पर राग-द्वेष ही होता है अतः सूत्रों के प्रयोजन के विरुद्ध मान्यता होने से भी निमित्तों को कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

वस्तु की स्वतंत्रता जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है और स्वावलम्बन ही उस स्वतंत्रता की प्राप्ति का उपाय है तथा निमित्तों के अवलम्बन में परावलम्बन है, अतः निमित्ताधीन दृष्टि स्वतंत्रता प्राप्ति का उपाय नहीं हो सकती।

प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वायत्त शासन है, उसमें परद्रव्य का अनुशासन नहीं चलता। प्रत्येक द्रव्य की अपनी स्वतंत्र सीमायें और मर्यादायें हैं। उनका अपना-अपना स्वचतुष्टय है, फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे ही क्यों और कर भी कैसे सकता है? प्रत्येक द्रव्य पर से असहाय या स्व-सहाय, स्वतंत्र है। नाटक समयसार में आता है -

“सकल वस्तु जग में असहाई, वस्तु सों मिले न कोई।

जीव वस्तु जाने जग जैसी, सोऊ भिन्न रहे सब सेती॥”

इस बात की पुष्टि आचार्य अमृतचन्द के समयसार-कलश से भी होती है वे कहते हैं - “तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाला अन्यद्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में प्रकाशित होती है।”^१

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में भी यही बात कही है। “अन्य द्रव्य से अन्यद्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।”^२ इस गाथा की टीका में और भी अधिक स्पष्टरूप से कहा है - “ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि - परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है; क्योंकि सर्वद्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। इसलिए हम जीव के रागादि का उत्पाद परद्रव्य को नहीं देखते हैं।”

परन्तु निमित्त-नैमित्तिक एक सहज संयोग है। सूर्योदय में चकवा-चकवी का संयोग किसी ने करुणा करके मिलाया नहीं है, रात होती है, सब सो जाते हैं। सवेरा होता है, सब जाग जाते हैं। सवेरा किसी को पुकार-पुकार कर जगाता नहीं, रात किसी को सुलाती नहीं है; परन्तु जब कोई पूछता है क्यों सो गये? उत्तर मिलता है रात हो गई। क्यों जाग गये? उत्तर होता है - सवेरा हो गया। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसीतरह कर्मोदय में जीव स्वयं विभावरूप परिणमता है। टोडरमलजी ने लिखा है कि “यदि कर्म परिणमावे तो कर्म को चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए।”

निमित्तों को कर्ता मानने से हानि ही हानि है। स्वयंकृत चोरी का दोष चन्द्रमा पर मढ़कर “यदि चाँदनी न होती तो मैं ताला तोड़ता ही

१. राग द्वेषोत्पादके तत्त्व दृष्ट्या, नान्यद्रव्यं वीक्ष्यते किचनापि।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति, व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

२. अण्णदवियण्ण अण्णदवियस्स णो कीरण्ण गुणुप्पाओ।

तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जन्ते सहावेण ॥३७२॥

कैसे?” कोई चोर दण्डमुक्त नहीं हो सकता। वैसे ही आत्मा भी अपने द्वारा कृत मोह-राग-द्वेष भावों का कर्तृत्व कर्मों पर थोपकर दुःखमुक्त नहीं हो सकता, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टिवालों की वृत्ति स्व-दोष दर्शन की ओर नहीं जाती। वे आत्म निरीक्षण नहीं करते।

निमित्तों के कर्तृत्व के निषेध पक्ष में निम्नलिखित आगम के उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं :-

(१) नरकों में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में वेदना, जातिस्मरणादि को निमित्त कहा है, सो वेदना तो सभी को हर समय है, सदा सबको सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

(२) क्षायिक सम्यक्त्व केवली के पादमूल में होता है तो समवसरण में स्थित सभी जीवों को क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना चाहिए, परन्तु होता नहीं - इसका क्या कारण है?

(३) मक्खन गोशाल ६६ दिन तक भगवान महावीर के समवसरण में बैठा-बैठा क्यों चला गया? और गृहीत मिथ्यादृष्टि होकर मस्करी मत का प्रचारक कैसे बन गया?

(४) शील के प्रभाव से सीताजी की अग्निपरीक्षा में अग्नि का जल हो गया और १८ हजार प्रकार से शील का पालन करने वाले भावलिङ्गी सन्त पाँचों पाण्डवों के अग्निमय लोह आभूषण ठंडे क्यों नहीं हुए?

(५) आदिनाथ भगवान जैसा समर्थ निमित्त पाकर भी मारीचि मिथ्यादृष्टि कैसे बना रहा? वह क्यों नहीं सुलटा और आदिनाथ उसे क्यों नहीं समझा पाये? आदि

यदि उपर्युक्त सभी बातों पर शान्ति से विचार किया गया, कारण-कार्य व्यवस्था को निमित्त-उपादान के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया तो दृष्टि में निर्मलता आ सकती है। मोक्षमार्ग में निमित्तों का क्या स्थान है इसका निर्णय कर सभी जीव स्वाधीन वृत्ति से साम्यभाव को प्राप्त करें। इस पवित्र भावना के साथ विराम.....

९

समाधि-साधना और सिद्धि

सन्यास और समाधि है जीना सिखाने की कला ।
बोधि-समाधि साधना शिवपंथ पाने की कला ॥
सल्लेखना कमजोर करती काय और कषाय को ।
निर्भीक और निःशंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को ॥

मरण और समाधिमरण - दोनों मानव के अन्तकाल की बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यदि एक पूर्व हैं तो दूसरा पश्चिम, एक अनन्त दुःखमय और दुःखद है तो दूसरा असीम सुखमय व सुखद। मरण की दुःखद स्थिति से सारा जगत सु-परिचित तो है ही, भुक्त-भोगी भी है। पर समाधिमरण की सुखानुभूति का सौभाग्य विरलों को ही मिलता है, मिल पाता है।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञानों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए 'मरण' एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पना मात्र से अज्ञानियों का कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है मानों उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित-अकस्मात अनभ्र वज्रपात होनेवाला है, जो उनका सर्वनाश कर देगा; उन्हें नेस्त-नाबूत कर देगा, उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। समस्त सम्बन्ध और इष्ट संयोग अनन्तकाल के लिए वियोग में बदल जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनका 'मरण' 'समाधिमरण' में परिणत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

जब चारित्रमोहवश या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण आत्मा की अमरता से सुपरिचित-सम्यग्दृष्टि-विज्ञान भी 'मरणभय' से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रह पाते, उन्हें भी समय-समय पर इष्ट वियोग के

विकल्प सताये बिना नहीं रहते। ऐसी स्थिति में देह-जीव को एक मानने वाले मोही-बहिरात्माओं की तो बात ही क्या है? उनका प्रभावित होना व भयभीत होना तो स्वाभाविक ही है।

मरणकाल में चारित्रमोह के कारण यद्यपि ज्ञानी के तथा अज्ञानी के बाह्य व्यवहार में अधिकांश कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, दोनों को एक जैसा रोते-बिलखते, दुःखी होते भी देखा जा सकता है; फिर भी आत्मज्ञानी-सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन-आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि दोनों की श्रद्धा में भी जमीन-आसमान जैसा ही महान अन्तर आ जाता है।

स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से प्राण छोड़ने के कारण नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है; वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके 'मरण' को 'समाधिमरण' में अथवा मृत्यु को महोत्सव में परिणत कर स्वर्गादि उत्तमगति को प्राप्त करता है।

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो मृत्यु जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तनरूप कारागृह से निकाल कर दिव्य देह रूप देवालय में पहुँचा देता है।

कहा भी है -

“मृत्युराज उपकारी जिय कौ, तन सों तोहि छुड़ावै ।
नातर या तन बन्दीगृह में, पड़ौ-पड़ौ बिललावै ॥”

कल्पना करें, यदि मृत्यु न होती तो और क्या-क्या होता, विश्व की व्यवस्था कैसी होती?

अरे! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गंभीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये

भवन में निवास करने के समान स्थानान्तर मात्र हैं, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है। परन्तु जिसने जीवन भर पापाचरण ही किया हो, आर्त-रौद्रध्यान ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे का दुःख कौन दूर कर सकता है? अब उसके मरण सुधरने का भी अवसर समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी तो अब गति के अनुसार मति को बिगड़ना ही है।

सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। वह जानता है, विचारता है कि -

“नौ दरवाजे का पींजरा, तामें सुआ समाय ।
उड़वे कौ अचरज नहीं, अचरज रहवे माँहि ॥”

अतः उसे मुख्यतया तो मृत्युभय नहीं होता। किन्तु कदाचित् यह भी संभव है कि सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टियों की तरह आँसू बहाये। पुराणों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं - रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी थे; फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कंधे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न दशा देखकर लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था कि - “पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं? लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने स्लेट पट्टी माँगी और उस पर लिखा -

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना ।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना ॥
जा परजै को अंत सत्यकरि जानना ।
चले बनारसी दास फेरि नहिं आवना ॥

अतः मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है; चारित्रमोह जनित कमजोरी तो अभी है ही न? फिर भी वह विचार करता है कि - “स्वतंत्रतया स्वचालित अनादिकालीन वस्तु व्यवस्था के अन्तर्गत ‘मरण’ एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी जीवों का जीवन-मरण व सुख-दुःख अपने-अपने कर्मानुसार ही होता है। कहा भी है -

“परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।”

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन प्रतिकूल परिस्थितियों को टालने के अन्त तक भरसक प्रयास करते हैं; तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, हो भी नहीं सकते। अंततः इस पर्यायगत सत्य से तो सबको गुजरना ही पड़ता है। जो विज्ञान तत्त्वज्ञान के बल पर इस उपर्युक्त सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनका मरण समाधि-मरण के रूप में बदल जाता है और जो अज्ञान उक्त सत्य को स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से मरकर नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि - ज्ञानीजन स्वतंत्र-स्वचालित वस्तुस्वरूप के इस प्राकृतिक तथ्य से भलीभाँति परिचित होने से श्रद्धा के स्तर तक मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ चिन्ताओं में व विकथाओं में बर्बाद नहीं करते। किन्तु इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित अज्ञानीजन अनादिकाल से हो रहे जन्म-मरण एवं लोक-परलोक के अनन्त व असीम दुःखों से बे-खबर होकर जन्म-मरण के हेतुभूत विकथाओं में एवं छोटी-छोटी समस्याओं को तूल देकर अपने अमूल्य समय व सीमित शक्ति को बर्बाद करते हैं, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

ऐसे लोग न केवल समय व शक्ति बर्बाद ही करते हैं, बल्कि आर्त-रौद्रध्यान करके प्रचुर पाप भी बाँधते रहते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी मानवीय कमजोरी है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि - जब भी और जहाँ कहीं भी दो परिचित व्यक्ति बातचीत कर रहे होंगे वे निश्चित ही किसी तीसरे की बुराई भलाई या टीका-टिप्पणी ही कर रहे होंगे। उनकी चर्चा के विषय राग-द्वेषवर्द्धक विकथायें ही होंगे। सामाजिक व राजनैतिक विविध गतिविधियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके वे ऐसा गर्व का अनुभव करते हैं, मानों वे ही सम्पूर्ण राष्ट्र का संचालन कर रहे हों। भले ही उनकी मर्जी के अनुसार पत्ता भी न हिलता हो। नये जमाने को कोसना-बुरा-भला कहना व पुराने जमाने के गीत गाना तो मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है। उन्हें क्या पता कि वे यह व्यर्थ की बकवास द्वारा आर्त-रौद्रध्यान करके कितना पाप बाँध रहे हैं, जोकि प्रत्यक्ष कुगति का कारण है।

भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके माथे के धवल केश मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिरविदाई की मानसिकता बना चुके हों। अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय है?

हो सकता है उनके विचार सामयिक हों, सत्य हों, तथ्यपरक हों, लौकिक दृष्टि से जनोपयोगी हों, न्याय-नीति के अनुकूल हों; परन्तु इस नक्कार खाने में तूती की आवाज सुनता कौन है? क्या ऐसा करना पहाड़ से माथा मारना नहीं है? यह तो उनका ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरों के सिवाय और कोई नहीं सुनता।

वैसे तो जैनदर्शन में श्रद्धा रखनेवाले सभी का यह कर्तव्य है कि वे तत्वज्ञान के आलम्बन से जगत के ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखें; क्योंकि सभी को शान्त व सुखी होना है, आनंद से रहना है, पर वृद्धजनों का तो एकमात्र यही कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवलज्ञाता-दृष्टा ही रहें, उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें; क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख के उपायभूत समाधि का साधन नहीं अपनायेंगे तो कब अपनायेंगे? फिर उन्हें यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है। वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते?

इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाने और जगत को सुधारने में उन्होंने अबतक क्या कुछ नहीं किया? बचपन, जवानी और बुढ़ापा - तीनों अवस्थायें इसी उधेड़बुन में ही तो बिताई हैं, पर क्या हुआ? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे वैराग्य क्यों नहीं हुआ?

आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अनन्तानंत जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ में से उचटे बिरले चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लम्बे काल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकार्यों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक; पर इसके उपरांत मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यग्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ है जो कि हमें हमारे सातिशय पुण्योदय से

सहज प्राप्त हो गये हैं। तो क्यों न हम अपने इस इन अमूल्य क्षणों का सदुपयोग कर लें। अपने इस अमूल्य समय को विकथाओं में व्यर्थ बरबाद करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

इस संदर्भ में भूधरकवि कृत निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुलि कौ जल है।
देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत;
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक अहेरी;
आवै परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;
ऐसी दशा मांहि, मित्र काहे की कुशल है।

इसप्रकार हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना आत्मज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समता, शान्ति व सुखपूर्वक जीवित ही रह सकता है और न समाधिमरण पूर्वक मर ही सकता है।

अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत दो-तीन प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है। एक तो यह कि - भाग्य से अधिक और समय से पहले किसी को कभी कुछ नहीं मिलता और दूसरा यह कि - न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, भले-बुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, हमारा भला-बुरा कर सकता है।

किसी कवि ने कहा है -

तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः, भाग्यात् परं नैव ददाति किञ्चित्।
अहिर्निशिं वर्षति वारिवाह तथापि पत्र त्रितयः पलाशः।।

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, तो भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

यह पहला सिद्धान्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इसका आधार जैनदर्शन की कर्म व्यवस्था है।

दूसरा सिद्धान्त 'वस्तु स्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है जो कि जैनदर्शन का प्राण है। इसके अनुसार 'जगत का प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही स्वतंत्ररूप से परिणमनशील है, पूर्ण स्वावलम्बी है।

जब तक यह जीव इस वस्तुस्वातंत्र्य के इस सिद्धान्त को नहीं समझेगा और क्रोधादि विभाव भावों को ही अपना स्वभाव मानता रहेगा; अपने को पर का और पर को अपना कर्ता-धर्ता मानता रहेगा तबतक समता एवं समाधि का प्राप्त होना संभव नहीं है।

देखो, "लोक के प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी परद्रव्य के आधीन नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता भी नहीं है।" ऐसी श्रद्धा एवं समझ से ही समता आती है, कषायें कम होती हैं, राग-द्वेष का अभाव होता है। बस, इसीप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कसाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।

यहाँ कोई व्यक्ति झुँझलाकर कह सकता है कि - समाधि... समाधि... समाधि...? अभी से इस समाधि की चर्चा का क्या काम? यह तो मरण समय धारण करने की वस्तु है न? अभी तो इसकी चर्चा शादी के प्रसंग पर मौत की ध्वनि बजाने जैसी अपशकुन की बात है न?

नहीं भाई! ऐसी बात नहीं है, तुम्हें सुनने व समझने में भ्रम हो गया है, समाधि व समाधिमरण-दोनों बिल्कुल अलग-अलग विषय हैं। जब समाधि की बात चले तो उसे मरण से न जोड़ा जाय। मरते समय तो

समाधिरूप वृक्ष के फल खाये जाते हैं; बीज तो समाधि अर्थात् समताभाव से जीवन जीने का अभी ही बोना होगा; तभी तो उस समय समाधिमरणरूप फल प्राप्त हो सकेगा। कहा भी है -

“दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, प्रीति सहित अपनाय।

च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि फल पाय ॥

समाधि तो साम्यभावों से निष्कषाय भावों से, निराकुलता से जीवन जीने की कला है, उससे मरण का क्या सम्बन्ध? हाँ, जिसका जीवन समाधिमय होता है, उसका मरण भी समाधिमय हो जाता है; मरण की चर्चा तो मात्र सजग व सावधान करने के लिए, शेष जीवन को सफल बनाने के लिए, संवेग भावना जगाने के लिए बीच-बीच में आ जाती है। सो उसमें भी अपशकुन जैसा कुछ नहीं है।

भाई मौत की चर्चा अपशकुन नहीं है, बल्कि उसे अपशकुन मानना अपशकुन है। हमें इस खरगोश वाली वृत्ति को छोड़ना ही होगा, जो मौत को सामने खड़ा देख अपने कानों से आँखें ढंक लेता है और स्वयं को सुरक्षित समझ लेता है। जगत में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते तो हैं ही; परन्तु सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उनके मरण को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

हाँ, जिन्होंने तत्त्वज्ञान के बल पर अपना जीवन भेदविज्ञान के अभ्यास से, निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जिया हो और मृत्यु के क्षणों में देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया हो; उनके उस प्राणविसर्जन की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधिमरण या मृत्यु-महोत्सव कहते हैं।

एतदर्थ सर्वप्रथम संसार से सन्यास लेना होता है। सन्यास अर्थात् संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना। सन्यास की सर्वत्र यही

व्याख्या है। ऐसे संसार, शरीर व भोगों से विरक्त आत्म साधना के पथ पर चलनेवाले भव्यात्माओं को सन्यासी कहा जाता है। साधु तो सन्यासी होते ही हैं, गृहस्थों को भी इस सन्यास की भावना को निरन्तर भाना ही चाहिए।

‘समाधि’ के लिए निजस्वरूप की समझ अनिवार्य है। आत्मा की पहचान, प्रतीति व श्रद्धा समाधि का प्रथम सोपान है। सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर सन्यासपूर्वक ही समाधि की साधना संभव है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों की सही समझ, इनमें हेयोपादेयता का विवेक एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अनिवार्य है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है, जोकि मोक्षमार्ग का प्रथमसोपान है। सन्यास व समाधि भी इसके बिना संभव नहीं है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण- यही सब समाधि के सोपान हैं। वस्तुतः - कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम ही तो समाधि है।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो - “आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के इक्कीसवें अध्याय में कहा है - ‘सम’ शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकरूप या एकाग्र करना। इसप्रकार शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।”

इसीप्रकार भगवती आराधना में भी समाधि के सम्बन्ध में लिखा है - “सम शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकाग्र करना, शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार गाथा १२२ में समाधि की चर्चा करते हुए कहा है कि - “वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।”

आचार्य योगीन्दुदेव कृत परमात्मप्रकाश की १९०वीं गाथा में परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि - “समस्त विकल्पों के नाश होने को परम समाधि कहते हैं।”

इसे ही ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा है कि - “ध्येय और ध्याता का एकीकरणरूप समरसीभाव ही समाधि है।”

स्याद्वाद मंजरी की टीका में योग और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है - “बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।”

इसप्रकार जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन साधना आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है। अतः समाधि के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीवन को निष्कषाय भाव से, समतापूर्वक, अतीन्द्रिय आत्मानुभूति के साथ जीना जरूरी है। जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से ही संभव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल पर जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा। एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन और उन्हीं की भावनाओं को बारम्बार नचाना, उनकी बारम्बार चिन्तन करना - अनुप्रेक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। तभी हम राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। जिन्होंने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं का समाधिपूर्वक होता है। वस्तुतः आधि-व्याधि व उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

पर ध्यान रहे, जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवनभर संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही हाय-हाय करते बीता हो, जिसने जीवन में कभी निराकुलता का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवनभर मुख्यरूप से आर्तध्यान व रौद्रध्यान ही रहा हो; उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि “जैसी मति वैसी गति।”

आगम के अनुसार जिसका आयुबंध जिसप्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः यहाँ ऐसा कहा जायगा कि “जैसी गति वैसी मति”।

जब तक आयुबंध नहीं हुआ तबतक मति अनुसार गति बंधती है और अगले भव की आयुबंध होने पर ‘गति के अनुसार मति’ होती है। अतः यदि कुगति में जाना पसंद न हो तो मति को सुमति बनाना एवं व्यवस्थित करना आवश्यक है, कुमति कुगति का कारण बनती है और सुमति से सुगति की प्राप्ति होती है।

जिन्हें सन्यास व समाधि की भावना होती है, निश्चित ही उन्हें शुभ आयु एवं शुभगति का ही बंध हुआ है या होनेवाला है। अन्यथा उनके ऐसे उत्तम विचार ही नहीं होते।

कहा भी है -

तादृशी जायते बुद्धि, व्यवसायोऽपि तादृशः।

सहायस्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता ॥

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक कारण कलाप सभी समवाय एक होनहार का ही अनुशरण करते हैं। मोही जीवों को तो मृत्यु इष्टवियोग का कारण होने से दुःख ही अनुभव होती है। भला मोही जीव इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं? नहीं दे सकते।

अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन सुधारने का प्रयत्न करना होगा।

मृत्यु को अमृत महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिकरूप से अपने आत्मा के अजर-अमर-अनादि-अनंत, नित्यविज्ञान घन व अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार होता है। साथ ही चिर विदाई देने वाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं तब कहीं वह मृत्यु अमृत महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्च्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या मरण की संभावना से भी रोने लगते हैं, इससे मरणासन्न व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की संभावना बढ़ जाती है अतः ऐसे वातावरण से उसे दूर ही रखना चाहिए।

शंका :- जब मृत्यु के समय कान में णमोकार मंत्र सुनने-सुनाने मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है, तो फिर जीवनभर तत्त्वाभ्यास की क्या जरूरत है? जैसा कि जीवनधर चरित्र में आई कथा से स्पष्ट है। उस कथा में तो साफ-साफ लिखा है - “महाराज सत्यन्धर के पुत्र जीवनधर कुमार के द्वारा एक मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके फलस्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारक देव बना।”

समाधान :- यह पौराणिक कथा अपनी जगह पूर्ण सत्य है, पर इसके यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन को समझने के लिए प्रथमानुयोग की कथन पद्धति को समझना होगा। एतदर्थ पण्डित टोडरमल कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्नकथन दृष्टव्य है।

“जिसप्रकार किसी ने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ; परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए; तथापि उनको मंत्र स्मरणादि का फल ही निरूपित करते हैं।.....”

यदि उपर्युक्त प्रश्न को हम पण्डित टोडरमल के प्रस्तुत कथन के संदर्भ में देखें तो उस कुत्ते को न केवल णमोकार मंत्र के शब्द कान में पड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति हुई; बल्कि उस समय उसकी कषायें भी मंद रहीं होंगी, परिणाम विशुद्ध रहे होंगे, निश्चित ही वह जीव अपने पूर्वभवों में धार्मिक संस्कारों से युक्त रहा होगा। परन्तु प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार णमोकार महामंत्र द्वारा पंचपरमेष्ठी के स्मरण कराने की प्रेरणा देने के प्रयोजन से उसकी स्वर्ग प्राप्ति को णमोकार मंत्र श्रवण का फल निरूपित किया गया है, जो सर्वथा उचित ही है और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्ण सत्य है। जिनवाणी के सभी कथन शब्दार्थ की मुख्यता से नहीं, वरन भावार्थ या अभिप्राय की मुख्यता से किए जाते हैं। अतः शब्द म्लेच्छ न होकर उनका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अभिधेयार्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि लोकदृष्टि से लोक विरुद्ध होने से तत्त्वज्ञानियों के भी आंशिक राग का सद्भाव होने से तथा चिर वियोग का प्रसंग होने से मृत्यु को अन्य उत्सवों की भाँति खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा विवेक के स्तर पर राग से ऊपर उठकर मृत्यु को अमृत महोत्सव जैसा महसूस तो किया ही जा सकता है।

यद्यपि सन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु सन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। सन्यास संसार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समताभाव रूप कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है। सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है - सम्यक् प्रकार से काय एवं कषायों को कृश करना।

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म की साधना संभव न रहे तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्म रक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है। इसे ही मृत्यु महोत्सव भी कहते हैं।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्न चित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषायभावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है। बस यही सल्लेखना का संक्षिप्त स्वरूप है।

समाधि की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि - 'समरसी भावः समाधिः' समरसी भावों का नाम समाधि है। समाधि में त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना मुख्य है।

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निजशुद्धात्म स्वरूप का ध्यान प्रमुख है। स्थूलरूप तीनों एक होते हुए भी साधन-साध्य की दृष्टि से सन्यास समाधि का साधन है और समाधि सल्लेखना का; क्योंकि सन्यास बिना समाधि संभव नहीं और समाधि बिना सल्लेखना-कषायों का कृश होना संभव नहीं होता।

सल्लेखना के आगम में कई प्रकार से भेद किए हैं; जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है -

नित्यमरण सल्लेखना :- प्रतिसमय होनेवाले आयुकर्म के क्षय के साथ द्रव्य सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणामन नित्यमरण सल्लेखना है।

तद्भवमरण सल्लेखना :- भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर त्यागना तद्भवमरण सल्लेखना है।

काय सल्लेखना :- काय से ममत्व कम करते हुए काय को कृश करना; उसे सहनशील बनाना काय सल्लेखना है। एतदर्थ कभी उपवास,

कभी एकाशन, कभी नीरस आहार कभी अल्पाहार (उनोदर)। - इसतरह क्रम-क्रम से शक्तिप्रमाण आहार को कम करते हुए क्रमशः दूध, छाछ गर्मपानी से शेष जीवन का निर्वाह करते मरण के निकट आने पर पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय सल्लेखना है।

भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना :- इसमें भी उक्त प्रकार से ही भोजन का त्याग होता है। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष व जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

कषाय सल्लेखना :- तत्त्वज्ञान के बल से कषायें कृश करना।

आगम में मरण या समाधि मरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओं से हुए हैं - उनमें निम्नांकित पाँच प्रकार के मरण की भी एक अपेक्षा है।

१. पण्डित-पण्डित मरण :- केवली भगवान के देह विसर्जन को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

२. पण्डित मरण :- यह मरण छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के होता है। एकबार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव में ही मुक्ति हो जाती है।

३. बाल पण्डित मरण - यह मरण देशसंयमी के होता है। इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

४. बाल मरण :- यह मरण चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

५. बाल-बाल मरण :- यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है। यह मरण करने वाले अपनी-अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारों गतियों के पात्र होते हैं। पाँचवें बाल-बाल मरण को छोड़कर उक्त चारों ही मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, परन्तु स्वरूप की स्थिरता और परिणामों की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार होती है।

समाधिधारक यह विचार करता है कि - "जो दुःख मुझे अभी है, इससे भी अनंतगुणे दुःख मैंने इस जगत में अनन्तबार भोगे हैं, फिर भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा। अतः इस थोड़े से दुःख से क्या घबराना?"

यदि पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान होगा तो फिर नये दुःख के बीज पड़ जायेंगे। अतः इस पीड़ा पर से अपना उपयोग हटाकर मैं अपने उपयोग को पीड़ा से हटाता हूँ। इससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होगा। जो असाता कर्म उदय में दुःख आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही, यदि समतापूर्वक सह लेंगे और तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहेंगे तथा आत्मा की आराधना में लगे रहेंगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचित कर्म क्षीण हो जायेंगे।

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें, जो प्रबलकर्म उदय में आयेंगे, वे तो फल देंगे ही। उपचार भी कर्म के मंदोदय में ही अपना असर दिखा सकेगा। जबतक असाता का उदय रहता है, तबतक औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर, राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते, क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का वश नहीं चलता। - ऐसा मानकर आये दुःख को समताभाव से सहते हुए सबके ज्ञाता-दृष्टा बनने का प्रयास करना ही योग्य है। ऐसा करने से ही मैं अपने मरण को समाधिमरण में परिणत कर सकता हूँ।

आचार्य कहते हैं कि - यदि असह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्मध्यान में न लगता हो, मरण समय हो तो ऐसा विचार करें कि - “कोई कितने ही प्रयत्न क्यों न करे, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो सुख-दुःख, जीवन-मरण जिस समय होना है, वह तो होकर ही रहता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट लिखा है कि - “साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति सम्पन्न इन्द्र व अनन्त बल के धनी जिनेन्द्र भी स्व-समय में होनेवाली सुख-दुःख व जीवन-मरण पर्यायों को नहीं पलट सकते।”

ऐसे विचारों से सहज समता आती है और राग-द्वेष कम होकर मरण समाधि मरण में परिणत हो जाता है।

सभी भव्य जीव ऐसे मंगलमय समाधिमरण को धारण कर अपने जीवन में की गई आत्मा की आराधना तथा धर्म की साधना को सफल करते हुए सुगति प्राप्त कर सकते हैं।

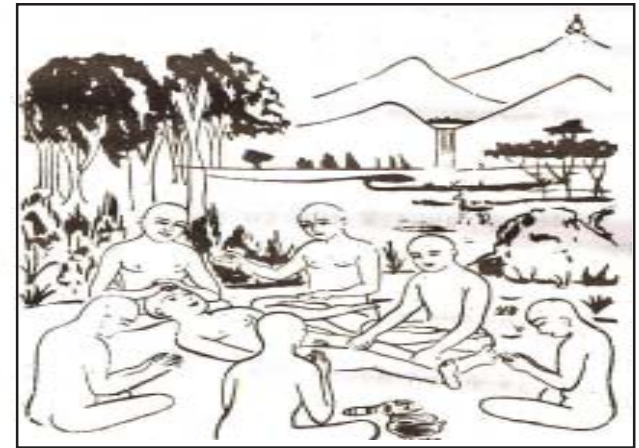
उपसंहार

सारांश रूप में कहें तो आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ - समाधि इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शांत, अत्यन्त निर्भय और निशंक भाव से जीवन जीने की कला ही समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना संभव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना संभव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेदविज्ञान अनिवार्य है।

जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।

समाधि और सल्लेखना को और भी सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि “समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीवन जीने की कला है और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।” इति शुभं।

ॐ नमः



१०

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और आचार्य अमृतचन्द्र

लोकेशणा से दूर रहनेवाले वनवासी निरीह-निःस्पृह, साधु-सन्तों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वे केवल आत्मा-परमात्मा का ही चिन्तन-मनन एवं उसी की चर्चा-वार्ता करते हैं, अन्य लौकिक वार्ता से एवं व्यक्तिगत बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता। यदि लिखने-पढ़ने का विकल्प आता है तो केवल वीतराग वाणी को लिखने-पढ़ने का ही आता है। अतः उनसे स्वयं के जीवन-परिचय के विषय में कुछ कहने-सुनने या लिखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

वस्तुतः तो आचार्य अमृतचन्द्र का कर्तृत्व ही उनका परिचय है और सौभाग्य से आज का स्वाध्यायी समाज उनके कर्तृत्व से अपरिचित नहीं रहा। एक साधु का इससे अधिक और परिचय हो भी क्या सकता है? न उनका कोई गाँव होता है, न ठाँव, न कोई कुटुम्ब होता है, न परिवार। उनके व्यक्तित्व का निर्माण उनकी तीव्रतम आध्यात्मिक रुचि, निर्मल वीतराग परिणति एवं जगतजनों के उद्धार की वात्सल्यमयी पावन भावना से ही होता है, जो उनके साहित्य में पग-पग पर प्रस्फुटित हुई है।

जब उनमें मोह-मग्न विश्व के प्रति वात्सल्यभाव जागृत होता है, तो वे करुणा से विगलित हो कहने लगते हैं -

“त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं।

रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ॥२२॥”^१

हे जगत के जीवो ! अनादिकालीन मोह-मग्नता को छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उदीयमान ज्ञान का आस्वादन करो। तथा -

“मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोकः,

आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता।

आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करणीं भरेण-

प्रोन्मग्न एव भगवानवबोधसिन्धुः ॥३३॥”^२

यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा भ्रमरूप चादर को समूलरूप से हटाकर सर्वांग से प्रगट हुआ है, अतः अब समस्त लोक उस शान्तरस में पूरी तरह निमग्न हो जाओ, उसी में बारम्बार गोते लगाओ।

और भी देखिए, वे समयसार कलश २३ में आत्महित में प्रवृत्त होने की प्रेरणा कितने कोमल शब्दों में दे रहे हैं -

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्-

अनुभवभवमूर्ते पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्..... ॥

अरे भाई ! तू किसी भी तरह मरकर भी अर्थात् महाकष्ट उठाना पड़े तो भी, तत्त्व का कौतूहली हो जा और केवल दो घड़ी के लिए ही सही इस शरीर का भी पड़ौसी बनकर आत्मा का अनुभव कर ! तेरे सब दुःख दूर हो जायेंगे।”

मानो, उनके मनके विकल्प रुकते नहीं हैं, तो वे अपने ही मन को समझाने लगते हैं -

अलमलमिति जल्पैदुर्विकल्पैरनकल्पै-

रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्य मेकः ॥”^३

बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ और एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि समयसार के सिवाय दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द के कंचन को कुन्दन बनानेवाले एकमात्र आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं, जिन्होंने एक हजार वर्ष बाद उनके ग्रन्थों पर रहस्योद्घाटक बेजोड़ टीकायें लिखकर उनकी गरिमा को जगत के सामने रखा।

अमृतचन्द्र ही कुन्दकुन्द के सशक्त टीकाकार के रूप में विख्यात हैं। आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि परम आध्यात्मिक संत, गहन तात्त्विक चिन्तक, रससिद्ध कवि, तत्त्वज्ञानी एवं सफल टीकाकार थे। आत्मरस में निमग्न रहनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र की सभी गद्य-पद्य रचनाएँ अध्यात्मरस से सराबोर हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ इन्हीं आचार्य अमृतचन्द्र का है। यह ग्रन्थ श्रावकाचार होते हुए भी अध्यात्मरस से सराबोर है। कहा भी है -

“अमृतचन्द्र मुनीन्द्र कृत ग्रन्थ श्रावकाचार,
अध्यातमरूपी महा आर्याछन्द जु सार।
पुरुषार्थ की सिद्धि को जामें परम उपाय,
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै आतम तत्त्व लखाय।”^१

इसप्रकार मुनीन्द्र, आचार्य, सूरि जैसी गौरवशाली उपाधियों से उनके महान व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

निश्चय में अनारूढ़, व्यवहार में विमूढ़ जगत के प्रति उनके हृदय में अपार करुणा थी। उनके चित्त में तत्त्व प्रतिपादन के अनन्त विकल्प उमड़ते, उन विकल्पों के वशीभूत हो उनकी लेखनी चल पड़ती, वाणी फूटी पड़ती, परन्तु विवेक निरन्तर जागृत रहता। वाणी और लेखनी से प्रसूत परमागम में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती, अपितु “मैं इनका कर्ता नहीं हूँ” ऐसा ही भाव निरन्तर जागृत रहता है। यही कारण है कि लगभग प्रत्येक कृति के अन्त में उनसे यही लिखा गया “मैं इस कृति का कर्ता नहीं हूँ। मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा आत्माराम हूँ।” प्रस्तुत कृति पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के अन्तिम छन्द में भी यही भाव व्यक्त हुआ है, जो इसप्रकार है -

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥

अनेकप्रकार के अक्षरों से रचे गये पद, पदों से बनाये गये वाक्य हैं और उन वाक्यों से फिर यह पवित्र शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है।”

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं -

१. आत्मख्याति (समयसार टीका) २. तत्त्वप्रदीपिका (प्रवचनसार टीका) ३. समय व्याख्या (पंचास्तिकाय टीका) ४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (मौलिक ग्रन्थ) ५. परमाध्यात्म तरंगिणी (समयसार कलश) ६. लघु तत्त्वस्फोट (मौलिक ग्रन्थ) ७. तत्त्वार्थसार (तत्त्वार्थ सूत्र की पद्यमय प्रस्तुति)।

यहाँ श्रावकाचार के संदर्भ में पुरुषार्थसिद्धयुपाय की चर्चा प्रासंगिक है अतः उसका संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है :-

प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जानेवाली मौलिक रचना है। आजतक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्ठव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य किसी भी श्रावकाचार में निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया। प्रायः सभी विषयों के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन एवं भाषा-शैली की स्पष्ट छाप छोड़ी है।

वे अपने प्रतिपाद्य विषय को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करते हैं। उक्त संदर्भ में प्रभावना अंग संबंधी निम्नांकित छन्द दृष्टव्य है -

“आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव ।

दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावित करना, निश्चय प्रभावना है तथा दान, तप, जिनपूजा और विशेष विद्या द्वारा जिनधर्म की प्रभावना का कार्य करना व्यवहार प्रभावना है।”

एक प्रकार से यह पूरा ग्रन्थ ही निश्चय-व्यवहार के समन्वय की सुगंध से महक उठा है।

नयविभाग की यथार्थ जानकारी के बिना आज निश्चय-व्यवहार के नाम पर समाज में जो विग्रह चल रहा है, उसके शमन का एकमात्र उपाय इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक पठन-पाठन करना ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र जिनागम के अध्ययन के लिए निश्चय-व्यवहार का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि निश्चय-व्यवहार के ज्ञान बिना शिष्य जिनागम का रहस्य नहीं समझ सकता, तथा जिनागम के अभ्यास का अविकल फल भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे कहते हैं -

“व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥”

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तुस्वरूप से यथार्थ जानकर मध्यस्थ होता है, वह ही उपदेश का अविकल फल प्राप्त करता है।”

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का स्थान निर्धारित करनेवाली गाथा प्रस्तुत करके टीकाकार पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि “हमें पहले दोनों नयों को भले प्रकार जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें यथायोग्य अंगीकार करना चाहिए। किसी एक नय के पक्षपाती होकर हठग्राही नहीं होना चाहिए। वे कहते हैं -

“जइ जिनामयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छएमुयह।

एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेणउण तच्चं ॥१९॥”

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रय स्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा।”

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय छन्द - ८

२. अनगार धर्माभूतः पंडित आशाधरजी प्रथम अध्याय, पृष्ठ - १९

यह गाथा आचार्य अमृतचन्द्र को भी अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने आत्मख्याति में इसे उद्धृत किया है। वे अपनी टीकाओं में सहजरूप से कोई उद्धरण देते ही नहीं हैं, तथापि इस गाथा को उन्होंने उद्धृत किया है।

मोक्षमार्ग का आरम्भ करते हुए एवं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आचार्य कहते हैं -

“तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिल यत्नेन।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥”

इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन की उपासना करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चरित्र सम्यक् होते हैं।”

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषायें निश्चय-व्यवहार की संधि पूर्वक ही दी है, जो इस प्रकार हैं -

“जीवादि पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय से आत्मरूप ही है।

जीवादि पदार्थों का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान निश्चय से आत्मरूप ही है।

समस्त सावद्ययोग और सम्पूर्ण कषायों से रहित पर पदार्थों से विरक्तरूप आत्मा की निर्मलता सम्यक्चारित्र है और वह सम्यक्चारित्र निश्चय से आत्मस्वरूप ही है।”

चारित्र के प्रकरण में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा का जैसा मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में ही आचार्य लिखते हैं -

“अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥”^१
यत् खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥^२

निश्चय से आत्मा में रागादि भावों का प्रगट न होना ही अहिंसा है, और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही निश्चय से हिंसा है।

कषाय रूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग से स्व-पर के द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना ही हिंसा है।”

जिनागम में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप में की गई है। सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविध रूपों का वर्णन है।

पाँचों पापों को एवं कषायादि को हिंसा में ही सम्मिलित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं -

“आत्मपरिणामहिंसन् हेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत् ।
अमृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥”^३

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घातक होने से ये सब पाँचों पाप एवं कषायादि सब हिंसा ही है, असत्य वचनादि के भेद तो केवल शिष्य को समझाने के लिए कहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति और उनके निमित्त से स्व-पर प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा है। झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और स्वपर प्राणों को पीड़ा भी पहुँचती है - इस कारण झूँठ, चोरी आदि पाप भी प्रकारान्तर से हिंसा ही है।

“सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसा ।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदापि कार्या ॥”^४

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - ४३, ४४

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - ४२

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - ४९

यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि से एवं अन्तरंग कषायादि का त्यागकर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।”

इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बंध नहीं है तथा जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है।

जिस अंश में इसके चारित्र है उस अंश से बन्ध नहीं और जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है।

जीव के तीन प्रकार हैं (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा। बहिरात्मा के तो रत्नत्रय हैं ही नहीं, अतः उनके तो सर्वथा बंध है परमात्मा का रत्नत्रय परिपूर्ण हो चुका है। अतः उनके बन्ध का सर्वथा अभाव है। बस एक अन्तरात्मा ही है, जिनके अंशरूप में रत्नत्रय प्रगट होता है। वे अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। उनके जिस अंश में रत्नत्रय प्रगट हुआ है, उस अंश में राग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंश में राग रहता है, उस अंश से कर्मबन्ध होता है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक सन्त पुरुष हैं और वे अपनी लेखनी और काव्य प्रतिभा का पूरा उपयोग स्व-पर कल्याण में ही करना चाहते हैं, अतः उनके द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य या काव्यकला के प्रदर्शन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, तथापि उनमें गहन काव्य-प्रतिभा होने से उनके साहित्य में स्वभावतः साहित्यिक सौन्दर्य भी आ गया है।

संस्कृत भाषा पर तो आचार्य अमृतचन्द्र का असाधारण अधिकार है ही, प्राकृत भाषा के भी वे मर्मज्ञ विद्वान थे। अन्यथा कुन्दकुन्द को कैसे पढ़/समझ सकते थे। उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे गूढ़ गम्भीर शास्त्रों का दोहन करना एवं उसे सुसंस्कृत सशक्त भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति देना अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य का ही काम था।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रांजल है। जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ में उनकी संस्कृत भाषा इतनी सरल, सहज व बोधगम्य है, वहीं दूसरी ओर उनके टीका ग्रन्थों में लम्बी-लम्बी शैलियों पर समान अधिकार है। वे केवल आध्यात्मिक सन्त ही नहीं, बल्कि एक रससिद्ध कवि एवं विचारशील लेखक भी हैं।

आपकी पद्य शैली में स्पष्टता, सुबोधता, मधुरता और भावाभिव्यक्ति की अद्भुत सामर्थ्य है। सभी पद्य प्रसाद गुण संयुक्त और शांत रस से सराबोर हैं। यद्यपि यह सम्पूर्ण ग्रंथ आर्या छन्द में है, तथापि परम अध्यात्म तरंगिणी आदि आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के अनेक भंगों की मीमांसा की है, जो मूलतः पठनीय है।

जैन दर्शन का मूल “वस्तुस्वातंत्र्य” जैसा पुरुषार्थसिद्धयुपाय में प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कार्य स्वयं में ही होता है, स्वयं से ही होता है पर पर पदार्थ तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

निमित्त-उपादान की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं। जीव के परिणाम रूप भावकर्म एवं पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध है - इस बात को वे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥

परिणममानस्य चितचिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

जीव के रागादि परिणामों का निमित्त मात्र पाकर कार्माण वर्गणा स्वयं ही कर्मरूप में परिणमित होती हैं। इसीप्रकार जीव भी कर्मोदय का निमित्त पाकर स्वयं ही रागादि भावरूप परिणमता है।”

“रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है।” - इस तथ्य को भी इसमें बड़ी खूबी से उजागर किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप निश्चय रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है,

शुभभाव रूप व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् रागभाव मुक्ति का कारण नहीं है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य निश्चय से मुक्ति के ही कारण हैं, बन्ध के कारण रंचमात्र नहीं हैं। रत्नत्रय और राग का फल बताते हुए वे साफ-साफ लिखते हैं -

“येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥”

इस आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में बन्ध नहीं है; परन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध होता है।

जितने अंश में आत्मा के ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है, उतने अंश में बंध नहीं है, परन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध होता है।

जितने अंश में इसके चारित्र्य (सम्यक्चारित्र्य) हैं, उतने अंश में इसके बंध नहीं होता है।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र का साहित्य जहाँ एक ओर अध्यात्म का अमृतरस से सराबोर है, वही दूसरी ओर इसकी पद्यकाव्यों में विविध प्रकार के छन्दों की इन्द्रधनुषी छटा भी दर्शनीय है।

अहिंसा के वास्तविक स्वरूप एवं रत्नत्रय के स्वरूप को निश्चय-व्यवहार की संधि को गहराई से समझने के लिए पुरुषार्थसिद्धयुपाय का आद्योपान्त अध्ययन एक बार अवश्य करें।



११

धर्म, परिभाषा नहीं प्रयोग है

किसी भी विषय को व्यक्त करने का माध्यम एकमात्र भाषा ही है, जब किसी भी वस्तु को या उसके भाव को व्यक्त करने के लिए उसे सुव्यवस्थित, निर्दोष व सुन्दर भाषा का स्वरूप प्रदान किया जाता है तो उसे ही परिभाषा कहते हैं।

अध्ययन-अध्यापन के सभी क्षेत्रों में अपने कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं, कुछ परिभाषाएँ होती हैं जो अपने निश्चित व सीमित अर्थों से जुड़ी होती हैं उनका मनमाने ढंग से अर्थ नहीं किया जा सकता। जैसे कि 'दर्शन' शब्द का अर्थ अवलोकन भी है और श्रद्धान भी किन्तु जैनदर्शन के मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यक्दर्शन का अर्थ भले प्रकार अवलोकन न होकर तत्त्व-श्रद्धान और आत्म अनुभूति ही होता है।

इसीप्रकार जैनधर्म के क्षेत्र में अनेक पारिभाषिक शब्द और परिभाषाएँ निश्चित हैं। जिनके माध्यम से धर्म का स्वरूप ज्ञात किया जाता है किन्तु परिभाषाएँ याद कर लेना स्वयं धर्म नहीं है, बल्कि उन परिभाषाओं में जो बात कही गई है, उसका जीवन में प्रयोग करना धर्म है।

हमसे कोई पूछे "धर्म क्या है"? हम तुरन्त उत्तर दे सकते हैं -

"यः सत्वान् उत्तमे सुखे धरति सः धर्मः।" अर्थात् जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख प्राप्त कराये वह धर्म है। "वत्थु सहावो धम्मो", अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। "दसणमूलो धम्मो", "चारित्तं खलु धम्मो" आदि और भी जो-जो परिभाषाएँ शास्त्रों में हैं और हमने पढ़ी हैं, उन्हें हम एक श्वांस में कह जायेंगे, क्योंकि ये सब परिभाषाएँ हमने शास्त्रों में पढ़ ली हैं, याद कर ली हैं।

इसी तरह अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, नय प्रमाण, निक्षेपादि तथा द्रव्य-गुण-पर्याय, साततत्त्व, नवपदार्थ तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान, प्राण, पर्याप्ति आदि सभी सिद्धान्तों की भी हम सूक्ष्म से सूक्ष्म चर्चा कर सकते हैं, बड़ी-बड़ी धर्म-सभाओं को भी सम्बोधित करना कोई बड़ी बात नहीं है; किन्तु आत्मानुभूति के अभाव में ये सब वाग्विलास ही हैं, क्योंकि धर्म का शुभारम्भ भेदविज्ञान और स्वानुभूति से ही होता है। स्वानुभूति ही मोक्षमार्ग का प्रथम प्रयोग है और इसके बिना धर्म की परिभाषाएँ कोई अर्थ नहीं रखती।

पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है - "जिन शास्त्रों से जीव के त्रसस्थावरादि रूप तथा गुणस्थान, मार्गणादि रूप भेदों को जानता है, अजीव के पुद्गलादि भेदों को तथा उनके वर्णादि विशेषों को जानता है; परन्तु अध्यात्म शास्त्रों में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतराग दशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता।

किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानना भी हो जावे तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; परन्तु अपने को आप रूप जानकर पर का अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी पर में न मिलना - ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि व शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है परन्तु अंतरंग निर्धार रूप श्रद्धान नहीं है अतः इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।"

इससे स्पष्ट है कि धर्म मात्र परिभाषाओं में ही सीमित नहीं, बल्कि वस्तु स्वरूप की सही प्रतीतिपूर्वक एक, अभेद, अखण्ड, त्रैकालिक, शुद्ध, ज्ञायक स्वभावी निजात्म तत्त्व को जानने में, पहचानने में, उसी में

जम जाने, समा जाने में हैं। साथ ही साथ अविनाभावीरूप से रहने वाला बाह्याचार भी उसमें आता ही है।

परिभाषाएँ तो हम से भी कहीं अधिक अच्छी टेप-रिकार्ड भी सुना सकता है तो क्या वह भी धर्मात्मा हो जाता है? उसमें आत्मा है ही कहाँ जो धर्मात्मा कहलाये?

दूसरी ओर जो मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग के पाठी तक होते हैं, क्या उन्हें ये सब परिभाषाएँ नहीं आती होगी? क्यों नहीं, अवश्य आती हैं। तो फिर आत्मानुभूति के बिना वे कोरे के कोरे क्यों रह जाते हैं? उन्हें धर्म लाभ क्यों नहीं होता? इससे भी स्पष्ट है कि धर्म परिभाषाओं में नहीं, प्रयोग में है और उसका आरम्भ आत्मानुभव से होता है।

भगवान महावीर के जीव ने सिंह की पर्याय में परिभाषाएँ नहीं रटी थीं, न उसे कोई भाषण देना ही आता था; किन्तु मुनिराज का सम्बोधन प्राप्त कर भेदविज्ञान हो गया था, भेदविज्ञान होते ही आत्मानुभूति हो गई और जीवन में धर्म का शुभारम्भ हो गया; बारम्बार वस्तु स्वरूप का विचार किया। मन में क्षणभर को विश्रान्ति पाकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव किया। बनारसीदासजी के शब्दों में कहें तो -

“वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम।

रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम॥”

ऐसा अनुभव करते हुए उसे कालान्तर में संसार-शरीर और भोगों से भी विरक्ति भी हुई, फिर क्या था मांसाहार का त्यागकर व सूखे पत्तों को खाकर और झरने का प्रासुक जल पीकर अनुभव के रस में झूलता हुआ अपना शेष जीवन बिताने लगा। ऐसे अनुभव की महिमा का वर्णन करते हुए पं. बनारसीदासजी स्वयं लिखते हैं -

“अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप॥”

इसका अर्थ यह न लगाना चाहिए कि परिभाषाएँ सीखना निरर्थक हैं या शास्त्राभ्यास व्यर्थ बताया जा रहा है, राजमार्ग तो यही है कि पहले हम शास्त्रानुसार अभ्यास करके निर्णय करें, फिर आत्मानुसार उसे जीवन में उतारें, क्योंकि -

“आत्म-अनात्म के ज्ञानहीन, जे-जे करनी तन करण क्षीण।”

भेदविज्ञान के बिना सारा श्रम व्यर्थ है।

एक आत्मानुभूति और आत्मध्यान के सिवाय पण्डित दौलतराम सब क्रियाओं को दृढ़-फंद कहते हैं। जगत के विषय-कषाय, धंधा-व्यापार, राजनीति की उठा-पटक तो दृढ़-फंद है ही, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि का व्यायाम भी दृढ़-फंद मानते हैं। तभी तो निज आत्मा के ध्यान की प्रेरणा देते हैं। अतः स्पष्ट है कि ‘धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है।’

प्रयोग से मेरा अभिप्राय कोई बाह्य व्रत-त्याग या किसी वेश-विशेष के धारण कर लेने से भी नहीं हैं, ये सब तो अपनी भूमिकानुसार यथा अवसर आते ही हैं। यहाँ तो इतना प्रयोजन जानना कि जिनवाणी अनुसार सीखा है, परस्पर चर्चा-परिचर्या का विषय बनाया है तदनुसार उसकी प्रतीत व अनुभूति भी हो, वैसा ही हमें एहसास भी हो, हम वैसा महसूस भी करें, तद्रूप वैसा ही आंशिक परिणमन भी हो।

जैसे कि हम शास्त्रानुसार यह जानते हैं कि - “एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं। हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सब स्वयंकृत कर्मों का ही फल है।” इस शास्त्र ज्ञान के चिन्तन-मनन द्वारा आत्मा में समता और धैर्य धारण करें। प्रतिकूलता में आकुल-व्याकुल न हों।

अमितगति आचार्यकृत सामायिक पाठ में कहा भी है -

“स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।

करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते॥

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।

पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमाद बुद्धि॥”

तथा “पर्याय सब क्रमनियमित व क्रमबद्ध ही होती हैं।

“जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो हो सी वीरा रे।

अनहोनी होसी नहीं कबहूँ, काहे होत अधीरा रे।”

तथा च “संयोग का वियोग निश्चित है। पर्यायें परिणमनशील हैं, आत्मा अजर-अमर अविनाशी है; धनादि बाह्यनुकूल संयोग परिश्रम से नहीं पुण्योदय के निमित्त से प्राप्त होते हैं, रोगादि भी पापोदय के दुष्परिणाम हैं।” ऐसे विचार को आचरण में लें, इससे जीवन में सुख-शांति का संचार होता है।

तात्पर्य यह है कि जब जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियाँ निमित्त हों ऐसे अवसर पर हम उक्त सिद्धान्तों को जिन्हें शास्त्रानुसार जानते हैं उन्हें आत्मानुसार प्रतीति में लेकर निराकुल रहने का प्रयास करें।

यद्यपि भूमिकानुसार ज्ञानी जीवों को भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन कषाय सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की ३ चौकड़ी विद्यमान हैं। इन कषायों का सद्भाव होने से आकुलता होना अस्वाभाविक नहीं है, पर्याय की कमजोरी से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। क्षायिक समकिति भरत-बाहुबलि, राम-लक्ष्मण आदि के उदाहरण शास्त्रों में देखे जा सकते हैं। जितनी कषाय विद्यमान है, तज्जनित अशान्ति व आकुलता होगी ही, किन्तु जब नारकी भी पर्याय जनित अनंत प्रतिकूलता में समता-रसपान कर सकते हैं तब हमें भी उनसे प्रेरणा लेनी होगी। दौलतरामजी का एक भजन है जिसमें समकिति नारकी का चित्र प्रस्तुत किया गया है -

“ऊपर नारकिकृत दुःख भोगे,
अन्तर सम रस, गटा-गटी।
चिन्मूरत दृग धारी की मोहि
रीति लगत कुछ अटा-पटी।।”

तब हमें वैसी प्रतिकूलता तो नहीं है। ऐसा विचार कर समता, शान्ति व धैर्य धारण करना चाहिये। ये भी एक विचारात्मक-विकल्पात्मक प्रयोग है। यदि अज्ञानी की तरह हमारे अन्तर में भी वैसा ही विलाप, हाय-हाय, आकुलता, संक्लेशरूप आर्तरीद्र ध्यान चलता रहे तो हमारे वे सिद्धान्त क्या कोरी परिभाषायें ही बनकर नहीं रह जायेंगे? प्रतिकूल प्रसंग हमारे लिए परीक्षा की घड़ी हैं, खरे-खोटे की परख के लिए कसौटी है।

आत्मानुभवी जीव का पुरुषार्थ, श्रद्धा के बल पर निरंतर समता की ओर होता है, ज्ञानाभ्यास तो जितना हो अच्छा ही है; परन्तु ज्ञान की सार्थकता सफलता प्रयोग में ही है। इस प्रयोग की प्रारंभिक भूमिका में बाह्याचरण रूप में तो लोकाचार विरुद्ध अन्याय-अनीति अभक्ष्यादि भक्षण से बचाव रूप होता है। धीरे-धीरे कालान्तर में विशुद्धि के अनुसार संयम की भूमिका भी आती है। इस तरह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ पुरुषार्थी जीव कालान्तर में पूर्णता को अवश्य ही प्राप्त होगा। इसमें देर हो सकती है, पर अन्धे नहीं।

हम सब लोग इस प्रकार सही स्वरूप को समझकर उसे जीवन में उतारें और शीघ्र ही पूर्णता को प्राप्त हो, यह पवित्र भावना है।



मृत्यु कोई गम्भीर समस्या नहीं है

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गम्भीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण करने के समान है।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-१११

१२

भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान

भारत विविध वर्गों, समाजों, सम्प्रदायों और जातियों का ऐसा बृहद बगीचा है; धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाजों, पुरातन परम्पराओं की ऐसी चित्र-विचित्र वाटिका है, जिसमें नाना संस्कृतियों के रंग-बिरंगे फूल खिलते रहे हैं, खिल रहे हैं और खिलते रहेंगे।

भारतीय जन-जीवन में धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में पुरातन परम्परागत मूलतः दो संस्कृतियों का बाहुल्य रहा है। एक श्रवण संस्कृति और दूसरी वैष्णव (वैदिक) संस्कृति। श्रमण संस्कृति में वर्तमान में भारत में मात्र जैन संस्कृति ही अधिक फूल-फल रही है; क्योंकि इसके नैतिक मूल्य 'अहिंसा परमोधर्मः' के सिद्धान्त पर आधारित हैं तथा जैनधर्म का मूल आधार अध्यात्म और अहिंसा है।

धार्मिक संस्कृतियाँ और सामाजिक संस्कृतियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। धार्मिक सिद्धान्त ही पूर्व परम्पराओं और आचार-विचार को संस्कारित करते हैं। ये परिष्कृत परम्परायें और आचार-विचार ही सभ्यता और संस्कृतियों के जनक होते हैं। ये सामाजिक संस्कृतियाँ और पारम्परिक रीति-रिवाज धार्मिक विचारों की भावभूमि पर ही आधारित होते हैं, धार्मिक भावनाओं का ही अनुसरण करते हैं। इस कारण इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य और सामाजिक सत्य है कि जब दो भिन्न सामाजिक संस्कृतियाँ, भिन्न-भिन्न जातियाँ अथवा भिन्न-भिन्न धर्मों को माननेवाले परिवार एक ही मौहल्ले में पास-पड़ोस में साथ-साथ रहते हैं तो वे एक-दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं रहते। जैनों के मौहल्ले में रहनेवाले जैनेतर समाज भी जैनों के आकर्षक धार्मिक एवं

समाजिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगते हैं, जैनों के शुद्ध-सात्विक खान-पान और आचार-विचार से प्रभावित होकर दिन में खाने लगते हैं, पानी छानकर पीने लगते हैं। अभक्ष्य आहार और अनैतिक व्यवहार का भी त्याग कर देते हैं तथा ब्राह्मणों के मौहल्ले में रहनेवाले मुस्लिम भाई भी दशहरा-दिवाली मनाने लगते हैं।

यह तो हुई संस्कृति, सभ्यता और पारम्परिक रीति-रिवाजों के उद्भव और विकास की बात; जो सभी वर्गों, जातियों और सम्प्रदायों में अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार पनपती है, और विकसित होती है।

आज हमारा विचारणीय मूल मुद्दा यह है कि जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को क्या प्रदेय है - इस विषय को जानने के लिए हमें जैनधर्म का व्यवहारिक पक्ष देखना होगा। जैनधर्म न केवल जैनसमाज तक ही सीमित है; बल्कि यह धर्म विश्वधर्म है, यह धर्म सार्वजनिक है, सार्वभौमिक है और सार्वकालिक है - ऐसा कोई देश नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो जैनधर्म के व्यवहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष से प्रभावित न हो, सहमत न हो; क्योंकि जैनधर्म मूलतः जैनदर्शन के चार महान सैद्धान्तिक स्तम्भों पर खड़ा है। वे चार स्तम्भ हैं - अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह।

जैनों के आचरण में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और व्यवहार में अपरिग्रह का सिद्धान्त समाया हुआ है। यहाँ अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे दार्शनिक सूक्ष्म सिद्धान्तों की चर्चा तो संभव नहीं है; परन्तु अहिंसा एवं अपरिग्रह सिद्धान्तों का भी भारतीय संस्कृति के लिए भी बहुत कुछ प्रदेय है, जिसकी संक्षिप्त चर्चा ही अभी यहाँ की जा सकती है।

जैनों की अहिंसा न केवल मानव के प्राणघात न करने तक ही सीमित है, बल्कि किसी भी जीव को, प्राणी मात्र को न सताना, न दुःख पहुँचाना तथा अपने आत्मा में भी किसी के प्रति राग-द्वेष न रखना

‘अहिंसा’ के व्यापक क्षेत्र में शामिल है; क्योंकि झूठ, चोरी आदि से भी दूसरों के प्राण पीड़ित होते हैं। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने झूठ, चोरी, कुशील और विषयभोग की सामग्री के अनुचित संग्रह को भी हिंसा पाप में ही सम्मिलित करके इनके त्याग को अहिंसा का व्यापक स्वरूप दर्शाया है।

अब हमें देखना यह है कि - जैनधर्म के कौन-कौन से सिद्धान्तों का, संस्कृतियों और परम्पराओं का सम्पूर्ण भारतीय समाज को क्या-क्या प्रदेय रहा है तथा वर्तमान परिस्थितियों में किन माध्यमों से किन सिद्धान्तों से और क्या योगदान हो सकता है?

राजनैतिक प्रदेय - हम इस अवसर पर भारत के उस आजादी के इतिहास को स्मरण करें, जिसमें एकमात्र अहिंसा ने यह कमाल कर दिया। महात्मा गाँधी ने जिस अहिंसा के अस्त्र से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, वह अहिंसा जैनधर्म की ही अहिंसा है, जिसमें कहा गया था कि हमें गोली का जवाब गाली से भी नहीं देना है।

इसतरह हम देखते हैं कि महात्मा गाँधी की वह अहिंसा और जवाहरलाल नेहरू के वे पंचशील सिद्धान्त और महामना मदनमोहन मालवीय का वह नारा, जिसमें कहा गया था कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ये सब किसी न किसी रूप में जैनधर्म के ही प्रदेय हैं।

जैनधर्म में तो यहाँ तक कहा गया है कि स्वतंत्रता हमारा अनादिसिद्ध अधिकार है। जैनधर्म न केवल नर से नारायण बनानेवाला दर्शन है; बल्कि यह तो पशु से परमात्मा बनानेवाला दर्शन है। यह तो यह कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी कारण परमात्मा हैं ही, यदि अपनी शक्ति को, अपने स्वभाव को जान ले, पहचान ले तो हम प्रगट पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने परमात्मा बनने की प्रक्रिया हाथी की पर्याय में प्रारम्भ की थी और भगवान महावीर ने सिंह की पर्याय में।

साहित्यिक प्रदेय - किसी भी संस्कृति, सभ्यता और सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करने का सर्वाधिक प्रबल साधन उसका सत्साहित्य होता है। जैनधर्म का भी आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक भाषाओं में प्रचुर सत्साहित्य उपलब्ध है और समय-समय पर वह विस्तृत टीकाओं, व्याख्याओं के साथ प्रकाशित भी होता रहता है, वर्तमान विद्वानों द्वारा लिखे गये मौलिक सत्साहित्य द्वारा भी जैन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार होता रहता है। यही कारण है कि प्रबुद्ध जैनेतर पाठक वर्ग भी जैन सिद्धान्तों का, जैनाचार विचारों की ओर इसके व्यवहारिक पक्ष का हृदय से प्रशंसक रहा है। तथा यथासंभव अपने आचरण में लाने का प्रयास भी करता है।

कोई कह सकता है कि वर्तमान के भौतिकवादी, भोगवादी इस अर्थप्रधान हिंसक युग में क्या हुआ आपके उन सिद्धान्तों का? आज जैनेतरों की तो बात ही क्या कहें जैन भी हिंसा और परिग्रह की पराकाष्ठा का उल्लंघन करते पाये जा रहे हैं? उनसे हम एक कहानी के माध्यम से मात्र इतना कहना चाहते हैं कि - एक बार बड़वाग्नि से समुद्र अकड़ कर बोला - ‘तू मेरे भीतर अनादिकाल से जल रही है, पर क्या बिगाड़ लिया तूने मेरा? मैं तो तेरी छाती पर वैसा ही लवालव भरा हुआ अपने ज्वार-भाटों द्वारा अठखेलियाँ कर रहा हूँ?’

बड़वाग्नि ने विनम्रभाव से कहा - जिसके ऊपर समुद्रों पानी पड़ा हो; फिर भी जो अनादि से अपने अस्तित्व को कायम रखकर उस अथाह और अपार समुद्र की नाक में नकेल डालकर उसपर नियंत्रण कर रही हो; उसे अपनी मर्यादा में रखें हो, मर्यादा का उल्लंघन न करने दे रही हो, उसके अस्तित्व और शक्ति के लिए यह क्या कम है?

ठीक इसीप्रकार इस भौतिकवादी, भोगवादी और अर्थप्रधान युग में भी जैनधर्म अपना अस्तित्व कायम किए हुए हैं और करोड़ों व्यक्तियों को अपने आचार-विचार और अहिंसा आदि के सिद्धान्तों से नियंत्रित किये रहता है, उसके प्रदेय के लिए यह क्या कम है।

भले ही व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत कमजोरी के कारण सम्पूर्ण रूप से अहिंसक आचरण नहीं कर पाता हो, व्यसनों का त्याग न कर पाता हो, अपरिग्रह के सिद्धान्त को पूरी तरह न अपना पाता हो, तथापि सिद्धान्त रूप से तो प्रायः सभी जैनाचार और जैन सिद्धान्तों के प्रशंसक ही हैं।

जैनसमाज की समृद्धि का कारण भी जैन आचरण ही है; वह कितना भी खर्च करे; शुद्ध-सात्विक शाकाहारी दाल-रोटी में कितना खर्च होगा? दूध-घी में डूबा भी रहे तो भी मांसाहार और शराब के साथ जिसे रंगरेलियों के लिए सुन्दरियाँ भी चाहिए, उनकी तुलना में तो वह खर्च कुछ भी नहीं है। जैनधर्म के अनुसार मांसाहार और शराब, भाँग, चरस-गांजा आदि तो त्याज्य है ही, परस्त्रीगमन और वैश्यागमन को भी दुर्व्यसन कहकर उसकी घोर निन्दा की है। शराबी और परनारी रत जैनी का जैन समाज में कोई स्थान नहीं होता, ऐसा व्यक्ति सम्पूर्णतया उपेक्षित ही रहता है; इस कारण जैन समाज अधिक समृद्ध है। हाँ, जब भी ये दुर्व्यसन जैनों में आ जायेंगे, वह भी बर्बाद हो जायेगा।

सामाजिक प्रदेय – दान और उदारता के क्षेत्र में भी जैनसमाज सदैव अग्रणी रहा है। यह उदारता भी जैनों ने अपने धर्म और दर्शन से ही सीखी है। आचार्य उमास्वामी का स्पष्ट आदेश है – “अनुग्रहार्थ स्वस्याति सर्गो दानं” अर्थात् अपने और दूसरों कि भलाई के लिए अपने न्यायोपात्त उपार्जित धन का देना ही सच्चा दान है। आज हम देखते हैं कि हजारों बड़े-बड़े शिक्षा संस्थान, धर्मायतन, औषधालय, छात्रवृत्तियाँ आदि द्वारा अनगिनत लोकोपकारी कार्य जैनसमाज द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं। यही सब जैनधर्म का भारतीय समाज को प्रदेय है। मैं अपेक्षा करता हूँ, आशा रखता हूँ कि जैन और जैनेत्तर समाज जैनधर्म को जीवन में अपनाकर इसी तरह अध्यात्म और लोकोपकार के क्षेत्र में अग्रणी रहकर अपना मानव जीवन सार्थक करें।



पंचकल्याणक : पाषाण से परमात्मा बनने की प्रक्रिया

भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थकर के जीवन में जो पाँच कल्याणकारी, दिव्य सातिशय और अनुपम घटनायें घटती हैं, उन्हें ही पंचकल्याणक कहते हैं।

‘पंच’ शब्द तो मात्र पाँच संख्या का सूचक है और कल्याणक का अर्थ है **कल्याणकारी मंगलमय महोत्सव**। अथवा-वैराग्यवर्द्धक, वीतरागता के पोषक, आत्मानुभूति में निमित्तभूत प्रेरणा-प्रद-पावन प्रसंग। ये पंचकल्याणक भव्य जीवों को संसार सागर से पार होने में निमित्त बनते हैं। इनके नाम हैं – गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान एवं मोक्ष कल्याणक।

जिनागम के अनुसार ये पंचकल्याणक तीर्थकरों के ही होते हैं और ‘तीर्थकर’ का अर्थ होता है – **जो जगत के जीवों को जन्म-मरण और आधि-व्याधि-उपाधि के असहा दुःखों के भव सागर से तारने में नौका के समान निमित्त हों।**

जो जीव पूर्व जन्म में विश्वकल्याण की भावना भाता है, समस्त संसारी जीवों के प्रति वात्सल्य भाव रखता है, उन्हें सम्पूर्ण रूप से सुखी देखना चाहता है, जिनके हृदय में निष्प्रयोजन करुणा होती है, जो सबकी मंगल कामना करता है, उन्हें ‘तीर्थकर’ नामक ऐसे सातिशय पुण्य कर्म का बन्ध होता है, जिसके फल में वह परमोत्कृष्ट, जगत पूज्य, सौ-सौ इन्द्रों द्वारा वंदनीय ‘तीर्थकर’ पद को प्राप्त करता है।

जब उस तीर्थकर पद को पाने वाला जीव ‘माँ’ के गर्भ में आता है तो गर्भ में आने के छह माह पूर्व से जन्म होने तक अर्थात् पन्द्रह माह तक इन्द्र की आज्ञा से धन-कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। दिग् कुमारी देवियों द्वारा तीर्थकर की माता की

परिचर्चा एवं गर्भशोधन की क्रिया होती है। तीर्थंकर का जीव जब गर्भ में आने वाला होता है, उसके एक दिन पूर्व तीर्थंकर की माता को सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। माता प्रातः उठकर राजदरबार में जाकर उन स्वप्नों का फल अपने पति से पूछती हैं। पति उन्हें स्वप्नों का फल बताते हैं, जिसे ज्ञातकर माता तो अति हर्षित होती ही हैं, राजदरबार में उपस्थित समस्त प्रजाजन एवं इन्द्र और देवगण भी हर्षित होकर जोर-शोर से गर्भ कल्याण का मंगल महोत्सव मनाते हैं।

जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब तीनों लोकों में हर्ष का वातावरण छा जाता है। चौबीसों घंटे नरक की यातनायें भोगने वाले नारकी जीवों को भी एक क्षण के लिए सुख-शान्ति का अनुभव होता है। भव्य जीवों के तो मानों भाग्य ही खुल जाते हैं। इन्द्रों का आसन कंपायमान होता है, इससे उन्हें ज्ञात होता है कि तीर्थंकर का जन्म हो गया है। वे तुरंत सदल-बल तीर्थंकर के जीव का जन्म कल्याणक मनाने के लिए चल पड़ते हैं। इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाकर माता के पास मायामयी बालक सुलाकर बाल-तीर्थंकर को जन्माभिषेक के लिए सौधर्म इन्द्र को सौंपती है। सौधर्म इन्द्र बाल तीर्थंकर को ऐरावत हाथी पर बिठाकर देव समूह के साथ सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं। वहाँ उनका क्षीर सागर के पवित्र जीव-जन्तुरहित प्रासुक जल से अभिषेक करते हैं। उन जैसा महोत्सव मनाना तो आज हमारे लिए असंभव ही है; फिर अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार हम भी इन पंच कल्याणक उत्सवों में साधर्मिजनों में से ही इन्द्रों की प्रतिष्ठा करके जन्म कल्याणक को सर्वाधिक उत्साह से मनाते हैं।

यहाँ कोई पूछ सकता है कि गर्भ और जन्म तो सभी जीवों के होते हैं; फिर मात्र तीर्थंकरों के ही ये दोनों उत्सव इन्द्रों द्वारा कल्याणक के रूप में क्यों मनाये जाते हैं? हमारे तुम्हारे क्यों नहीं?

समाधान यह है कि - यद्यपि गर्भ में आना और जन्म लेना कोई नई बात नहीं है, बड़ी बात भी नहीं है; बल्कि ये दुःखद ही होते हैं; किन्तु

जिस गर्भ के बाद पुनः किसी माँ के गर्भ में न जाना पड़े, जिस जन्म के बाद किसी के उदर से पुनः जन्म न लेना पड़े। जिस गर्भ एवं जन्म में जन्म-मरण का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्त हो, वह गर्भ और जन्म कल्याण स्वरूप होने से कल्याणक के रूप में मनाये जाते हैं। तीर्थंकर का जीव अब पुनः गर्भ में नहीं आयेगा, पुनः जन्म भी नहीं लेगा; अतः उसका ही गर्भ-जन्म कल्याण के रूप में मनाया जाता रहा है, मनाया जाता रहेगा।

यद्यपि 'तीर्थंकर' नामक पुण्य प्रकृति का उदय-अरहंत अवस्था में केवलज्ञान होने पर तेरहवें गुणस्थान में आता है, तथापि उस तीर्थंकर प्रकृति के साथ ऐसा सातिशय पुण्य भी बँधता है, जिसके फलस्वरूप गर्भ, जन्म, तप कल्याणक के मंगल महोत्सव मनाये जाते हैं। तीर्थंकर प्रकृति के फल में उनकी वाणी में ऐसी सातिशय सामर्थ्य प्रगट होती है कि उनकी निरक्षरी वाणी (दिव्यध्वनि) को श्रोता अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

तीर्थंकर जन्म से ही मति-श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारी होते हैं। वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी जन्म से ही होते हैं; अतः संसार, शरीर और भोगों की क्षण भँगुरता और असारता से भी भली-भाँति परिचित होते ही हैं; फिर भी अनेक तीर्थंकर तो बहुत लम्बे समय तक घर-गृहस्थी में रहकर राज-काज करते रहे। इसी वर्तमान चौबीसी के आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को ही देखो न! उनकी चौरासी लाख पूर्व की कुल आयु थी, जिसमें तेरासी लाख पूर्व तक तो राज्य ही करते रहे। न केवल राज्य करते रहे, बल्कि राज्य और परिवार के बीच रहकर लौकिक सुख भी भोगते रहे। नीलांजना का नृत्य देखते-देखते हुई उसकी मृत्यु ही तो उनके वैराग्य का निमित्त बनी थी न! शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ तो चक्रवर्ती पद के धारक भी थे, जिनके छह खण्ड की विभूति और छियानवें हजार रानियाँ थीं।

यद्यपि नीलांजना की मौत और जनता का स्वार्थीपना तो उनके वैराग्य का मात्र बाह्य-निमित्तकारण था, जो वस्तुतः अकिंचित्किर होता है। जबतक उपादान कारण में दीक्षा लेने की तत्समय की योग्यता न आई हो तब तक दीक्षा नहीं हो सकती थी। प्रत्येक कार्य अपने पाँच समवाय पूर्वक ही तो होता है, जिसमें पुरुषार्थ, होनहार एवं काललब्धि प्रमुख हैं। इनके सुमेल के बिना भी कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता।

तीर्थकर जब भी दीक्षा लेते हैं, स्वयं ही दीक्षित होते हैं। वे किसी से दीक्षा लेते भी नहीं है और किसी को दीक्षा देते भी नहीं हैं। वे दीक्षा लेते ही मुनि अवस्था में मौन से ही रहते हैं। उनका अधिकांश समय आत्मा में स्थिर होने हेतु अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में ही व्यतीत होता है।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ॐ के रूप में उनकी निरक्षरी या एकाक्षरी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है। वे किसी एक व्यक्ति के लक्ष से एक भाषा विशेष में उपदेश नहीं देते। किसी के प्रश्नों का उत्तर नहीं देते। उनकी इस दिव्यध्वनि का ऐसा अतिशय होता है कि श्रोताओं के मन में जो भी प्रश्न उठते हैं, जो भी जिज्ञासा होती है, उसका सहज समाधान स्वतः ही हो जाता है। उनकी दिव्यध्वनि में तो द्वादशांग के रूप वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन ही होता है। चार अनुयोगों की शैली में जो जिनवाणी आचार्यों द्वारा करुणाबुद्धि से सरल प्रश्नोत्तरी की शैली में लिपिबद्ध हुई, उसी दिव्यध्वनि का सार शास्त्र के रूप में हमें उपलब्ध हैं।

तीर्थकर भगवान की इस धर्मसभा को ही समोशरण कहते हैं। इस धर्मसभा की रचना इन्द्र द्वारा की जाती है। धर्मसभा में श्रोता मनुष्य, देव तो होते ही हैं, पंचेन्द्रिय संज्ञी पशु भी होते हैं, सभी वैर-विरोध भूलकर धर्माभूत का पान करते हैं। यह चल धर्मसभा तीर्थकर अरहंत की आयु पर्यन्त चलती रहती है। अन्त में जब तीर्थकरों का निर्वाण होता है, तब उनका निर्वाण कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, और वे सिद्ध पद प्राप्त कर अनन्तकाल तक अनन्त सुख में मग्न रहते हैं।

साक्षात् तीर्थकर भगवान के अभाव में उनके पावन उपदेशों एवं आदर्शों का अनुकरण करने हेतु एवं उनकी मंगलमय उक्त घटनाओं के निमित्त से अपने जीवन को मंगलमय बनाने हेतु जो नवनिर्मित तदाकार जिनबिम्बों की विधि-विधानपूर्वक प्रतिष्ठा होती है उनमें पूज्यता स्थापित करने के लिए ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव किए जाते हैं, ये उन्हीं असली पंच-कल्याणकों की सत्यापित, प्रमाणित आदर्श प्रस्तुति है। मंच पर जो पाँचों कल्याणकों का आगम के अनुरूप आकर्षक, शिक्षाप्रद एवं प्रेरणाप्रद प्रदर्शन होता है, वह तो मात्र उपस्थित जनता की सामान्य जानकारी हेतु ही होता है, साथ ही प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा मंच के पीछे वेदी में विराजमान जिनबिम्बों की विधि-विधानपूर्वक मंत्रों द्वारा स्थापना निक्षेप से प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न होती है, जिससे उनमें पूज्यता आती है। आगम में इसका स्पष्ट उल्लेख है -

“जिनप्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागम माँहि।”

इसप्रकार पंचकल्याणक महोत्सवों के माध्यम से प्रतिष्ठित प्रतिमायें साक्षात् समवसरण में विराजमान जिनेन्द्र के समान ही भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन में निमित्त होती हैं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि साक्षात् समोशरण में भी तो हमें इन चर्मचक्षुओं से तीर्थकर भगवान का परम औदारिक शरीर ही दिखाई देता है। उनके आत्मा के दर्शन तो हमें वहाँ भी नहीं होते। अतः हमारे लिए तो हमारा जिन मन्दिर ही तीर्थकर भगवान का समवसरण है जिनप्रतिमा ही जिनेन्द्र हैं और शास्त्र ही उनकी साक्षात् दिव्यध्वनि का सार है।

जब तीर्थकर भगवान का केवलज्ञान कल्याणक के पूर्व तपकल्याणक होता है, तब उनके वैराग्य के प्रसंगों का जो सशक्त प्रदर्शन होता है, वह हजारों भव्य जीवों को वैराग्य में प्रेरक बनता है, अनेक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हैं, अनेक मन ही मन विषय-कषायों से विरक्त होते हैं। पाप

प्रवृत्तियों को त्यागने की भावना भाते हुए सन्मार्ग में लगते हैं। दिल खोलकर चारों प्रकार का दान देते हैं। घर-घर में जिनवाणी पहुँचाने का कार्य दानदाताओं द्वारा किया जाता है।

महीनों पहले से धार्मिक वातावरण बन जाता है। नवनिर्मित जिन मन्दिर हजारों वर्षों तक भव्यात्माओं के कुछ मोक्षमार्ग के निमित्त बनते हैं। देश में आतंकवाद, चोरी, डकैती, ठगी, दुराचार आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ जो शासन के लिए सदैव सरदर्द बनी रहती हैं – उन पर भी इन धार्मिक भावनाओं के प्रचार-प्रसार से बहुत कुछ अंकुश लगता है – इसप्रकार ये महोत्सव देश की लौकिक समस्याओं को सुलझाने में भी साधन बनते हैं। सभी भव्य जीव इन आयोजनों से शतत् लाभ लेते रहें – इस मंगलभावना के साथ विराम।

ॐ नमः



परमात्मा बनने की प्रक्रिया

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है। इसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं भगवान है और यदि जिनागम में बताये मार्ग पर चले, स्वयं को जाने, पहचाने और स्वयं में ही समा जावे तो प्रगट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा बनने की प्रक्रिया पूर्णतः स्वावलम्बन पर आधारित है। किसी की कृपा से दुःखों से मुक्ति संभव नहीं है; अतः जैनदर्शन का भक्ति साहित्य अन्य दर्शनों के समान कर्त्तावाद का पोषक नहीं हो सकता।

– जिनपूजन रहस्य, पृष्ठ-३९

१४

परिग्रह को पाप मानने वालों के पास अधिक परिग्रह क्यों ?

एक नेताजी अपने भाषण में कह रहे थे कि “जो अपरिग्रह को ही सबसे बड़ा धर्म और परिग्रह को सबसे बड़ा पाप कहते हैं, उन्हीं के पास सबसे अधिक परिग्रह क्यों होता है ? समझ में नहीं आता उनमें यह विरोधाभास क्यों ? ये अपने परिग्रह पाप को कम क्यों नहीं करते ?”

संभव है उनका इशारा उन चन्द्र धन कुबेरों की ओर हो, जो चुनाव में चन्दा देने से आना-कानी करते हैं। पार्टियों को पर्याप्त चन्दा नहीं देते अथवा सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में धन खर्च नहीं करते। अस्तु; बात तो नेताजी की अच्छी ही थी। परिग्रहवाले पूंजीपतियों की समालोचना सुनकर सामान्य जनता भी खुश हो रही थी, अतः तालियाँ भी खूब बज रही थीं। संयोग से मैं उस सभा की अध्यक्षता कर रहा था। अतः अपनी बात कहने के साथ पूर्व वक्ताओं के प्रश्नों के उत्तर देना भी मेरा दायित्व था। अतः मैंने सर्वप्रथम नेताजी से यह निवेदन किया कि आपने जैनों के पास पैसा होने की बात तो कही; पर उनके पास पैसा क्यों होता है ? क्या इस पर भी कभी गौर किया ? वे मौन रहकर प्रश्नवाचक मुद्रा में मेरी ओर देखने लगे।

मैंने कहा – सुनो ! पहली बात तो यह कि जैनी अधिकांश व्यापारी होते हैं और ‘व्यापारे लक्ष्मी वसति’ यह बात प्रसिद्ध है, इसलिए जैनों के पास पैसा होता है।

दूसरी बात – जैनों को जन्मजात धर्म के संस्कार मिलने से प्रायः सप्त व्यसन के त्यागी होते हैं अतः शराब वे नहीं पीते, मांसाहार वे

नहीं करते, वैश्यावृत्ति वे नहीं करते। जुआ जैसे दुर्व्यसन भी अधिकांश जैनों में नहीं होते। ये ही अवगुण बर्बादी के कारण हैं, जो अधिकांश जैनों में नहीं हैं। जिन जैनों में ये दोष (अवगुण) आ जाते हैं, वे बर्बाद हो जाते हैं। सूखी दाल-रोटी में और छने पानी पीने में कितना खर्च होता है ? अतः थोड़ा-थोड़ा भी बचाया तो बहुत हो जाता। कहा जाता है - “बूँद-बूँद तैं घट भरै और कण-कण जोड़े मन जुड़े।”

अतः जैनों के पास पैसा होना स्वाभाविक है।

तीसरी बात मैंने यह कही कि जैनों को जन्म से ‘सत्वेषुमैत्री’ का पाठ पढ़ाया जाता है। ‘प्रेम भाव हो सब जीवों में’ का सबक सिखाया जाता है। क्रोधादि कषायें न करने के संस्कार दिए जाते हैं। अतः वे भाई-भाई आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं हैं। कभी यदा-कदा लड़ें भी तो हथियार तो उनके पास होते ही नहीं हैं। मैं-मैं तू-तू होकर रह जाते, बहुत हुआ तो हाथापाई, बस...। जबकि दूसरे लोगों के बारे में आये दिन पेपरों में पढ़ने को मिलता है। एक ने बन्दूक से दूसरे की जान ले ली, जान लेनेवाला जेल में गया और दूसरा परलोक में। हो गई मुकदमेंबाजी शुरू, उनका बचा-खुचा सब माल लग गया ठिकाने। यह भी एक बर्बादी का कारण है। जैन लोग समझौता में विश्वास करते हैं, अतः उनके अधिकांश झगड़े कोर्ट तक पहुँचते ही नहीं हैं। वे आपस में बैठकर ही निबटा लेते हैं, अधिक हुआ तो पारिवारिक या सामाजिक पंचायत में तो निबट ही जाते हैं।

ये कारण तो हुए जैनों के पास पैसा होने के। अब देखना यह है कि जब ये अपरिग्रह की बात करते हैं, परिग्रह को पाप कहते हैं तो परिग्रहरूप पापपुंज रखते क्यों हैं ? कम क्यों नहीं करते ?

यह प्रश्न विचारणीय है। एतदर्थ हमें परिग्रह का स्वरूप समझना होगा; क्योंकि परिग्रह को परिभाषित किये बिना अपरिग्रह का स्वरूप समझा नहीं जा सकता। अतः पहले परिग्रह की बात करते हैं।

जिनागम में परिग्रह को सबसे बड़ा पाप और अपरिग्रह को सबसे बड़ा धर्म कहा गया है। दशलक्षण पूजा में परिग्रह के २४ भेद किये जाते हैं, उनमें १४ अन्तरंग परिग्रह हैं और १० बहिरंग परिग्रह हैं - मूलपद्य इसप्रकार है-

परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करे मुनिराजजी।

तृष्णा भाव उच्छेद, घटती जान घटाइए।।

उक्त पद्य में चार बातें कहीं हैं - एक - परिग्रह चौबीस प्रकार का है, दूसरी - इनका सम्पूर्ण त्याग साधु करते हैं और तीसरी - बहिरंग परिग्रह में तृष्णाभाव का त्याग (उच्छेद) ही वस्तुतः अपरिग्रह है और चौथी - गृहस्थों को भी यथाशक्ति इन बाह्य परिग्रहों का त्याग करना चाहिए।

आजकल जब भी परिग्रह की बात चलती है तो हम मात्र बहिरंग परिग्रह को ही परिग्रह मानते हैं, जो इसप्रकार हैं - (१) क्षेत्र (खेत), (२) वास्तु (मकान), (३) हिरण्य (चांदी), (४) सुवर्ण (सोना), (५) धन (रुपया-पैसा), (६) धान्य (अनाज), (७) दासी-दास, (८) कुप्य (बर्तन) ९. वस्त्र और १०. गाड़ी-घोड़ा आदि।

जरा सोचिए क्या इसी परिग्रह को सबसे बड़ा पाप कहा होगा ? जबकि ये सब तो पुण्य के फल हैं, बड़े सौभाग्य से प्राप्त होते हैं और जिसके पास यह वैभव होता है, उसकी तो कवि ने यहाँ तक प्रशंसा की है -

यस्यास्ति वित्तं, स नरः कुलीन, सपण्डितः श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीय, सर्वे गुणः कांचनमाश्रयन्ति।।

यद्यपि कवि का यह कथन एक व्यंग्य है; पर सच भी यही है, क्योंकि यह सब वैभव पुण्य से प्राप्त हुआ है; मुफ्त में नहीं मिला है। जगत में ऐसा कौन है जो करोड़पति नहीं बनना चाहता; और प्रयत्न

भी सभी करते ही हैं; पर बनते वही हैं जिनके भाग्य में होता है। “भाग्यात् परं नैश ददाति किञ्चित्”

इसे सिद्ध करने की जरूरत नहीं, यह बात बच्चा-बच्चा जानता है। मैंने एक आठ वर्ष के बच्चे से पूछा - “बताओ! तुम्हारी कक्षा में जो ४० बालक हैं, उन सबकी शकल एक-सी है, अकल एक-सी है, पालकों की परिस्थितियाँ एक जैसी हैं, सबके उत्तर थे नहीं, नहीं, नहीं। एक गरीब के घर जन्मा और दूसरा अमीर के घर क्यों जन्मा ?”

उत्तर था - “पूर्वजन्म में जिसने जैसे पुण्य-पाप किये उसे वैसा ही फल मिला है; तुलसीदास ने साफ कहा है - **कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जे जस करे सो तस फल चाखा**”

अतः भाईसाहब पैसा पाप नहीं है, धन-दौलत पाप नहीं। ये तो पुण्य के फल हैं, किन्तु फिर भी इस बाह्य परिग्रह को पापों में क्यों गिना और परिग्रह को सबसे बड़ा पाप क्यों कहा ? सोचा है कभी इस विषय पर ? यदि नहीं तो सुनिए।

“निःसन्देह धन-दौलत आदि बाह्य परिग्रह पाप नहीं, बल्कि इसमें मूर्च्छा होना परिग्रह पाप है। मूर्च्छा का अर्थ है ममत्व करना, एकत्व करना। वैभव मेरा है, इसी से मैं बड़ा हूँ - यह एकत्व-ममत्वबुद्धि ही सबसे बड़ा पाप है। इनका अनावश्यक संग्रह करना और प्राप्त भोगोपभोगों में तन्मय होना भी पापभाव है। यदि परिग्रह पाप होता तो सर्वाधिक परिग्रह वाले भरत चक्रवर्ती पुण्यात्मा और धर्मात्मा कैसे कहे जाते ? जबकि उन्हें ‘घर में ही वैरागी’ कहा गया है। अतः वस्तुतः वैभव में मूर्च्छा होना परिग्रह है।

एक साधु था, उसने भिक्षा में माँग-माँगकर सौ मुहरे खरीदीं और वह उन्हें गुदड़ी में छिपाकर सीने से लगाकर रखता। चोरी के भय से अपने शिष्य से कहता - गंगाराम जागते रहना, गंगाराम की समझ में

नहीं आता; गुरुजी मुझे रात को सोने क्यों नहीं देते? इन्हें क्या डर है? एक दिन उसने गुदड़ी खोली, उसमें १०० मुहरे छिपी थीं, उस निर्मोही शिष्य ने उन्हें गुदड़ी में से निकाल कर पास के कुएं में डाल दिया और जब मोही गुरुजी ने कहा - जागते रहना गंगाराम तो गंगाराम ने कहा - “गुरुजी अब निश्चिन्त सो जाओ। आपका डर मैंने कुएं में डुबो दिया। वह साधु मुहरों से नहीं, उनके मोह से बैचेन था, अतः मोह ही परिग्रह है।

यदि अकेले रुपयों-पैसों को ही परिग्रह मानेंगे तो जिन भिखारियों के पास पैसा नहीं और पशुओं के पास तो पैसा है ही नहीं तो क्या वे इस पाप से मुक्त हैं? नहीं; क्योंकि ममत्व तो उनमें भी असीमित है। अतः **पैसे में ममत्व का त्याग ही अपरिग्रह है।**

अपने भावों की विशुद्धि के लिए इस भोग सामग्री का भी त्याग तो करना ही चाहिए और प्राप्त धन-धान्य आदि को सत्कार्यों में खर्च करना चाहिए। यह बात जुदी है कि सत्कार्यों की परिभाषा क्या हो?

जिनागम में तो छह खण्ड का वैभव होते हुए भी ममत्व परिणाम न रहने से भरतजी को घर में ही ‘वैरागी’ की संज्ञा प्राप्त थी। इससे स्पष्ट है कि पैसा होना परिग्रह पाप नहीं है, बल्कि उसमें ममत्व ही परिग्रह पाप है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुतः मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह ही सबसे बड़ा पाप है, जिसे लोग पाप में ही नहीं गिनते।

अंतरंग परिग्रह १४ प्रकार के हैं - (१) मिथ्यात्व, (२) क्रोध, (३) मान, (४) माया, (५) लोभ; (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक, (१०) भय, (११) जुगुप्सा, (१२) स्त्रीवेद, (१३) पुरुषवेद और (१४) नपुंसक वेद - ये १४ भेद अंतरंग परिग्रह हैं।

अब हम जरा सोचें, विचार करें कि क्या हम हंसने को कभी परिग्रह पाप मानते हैं, पत्नी से-पुत्र से-परिवार से रति अर्थात् राग करने

को, प्रेम करने को, परिग्रह पाप मानते हैं। जबकि ये ही यथार्थ परिग्रह पाप हैं। यद्यपि इनके त्याग बिना केवल बाह्य परिग्रह के त्याग की धर्म के क्षेत्र में कुछ भी कीमत नहीं है; फिर भी परिणामों की विशुद्धि के लिए परोपकार की भावना से प्राप्त अर्थ का सदुपयोग अच्छे कार्यों में करना ही चाहिए। दान की परिभाषा में कहा भी है -

‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्’

धन उस कुएं की झर की तरह है, जिससे दिनभर कितना भी पानी खर्च कर दो, रात में कुआं प्रतिदिन अपनी झरों के द्वारा उतना ही पानी भरता ही रहता है। यदि उस पानी को नहीं निकालेंगे तो वह पानी तो सड़ ही जायेगा और नया पानी आना भी बंद हो जायेगा। अतः-

पानी बाड़े नाव में, घर में बाड़े दाम।

दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम॥

धन की केवल तीन गतियाँ होती है - दान-भोग और नाश, जो व्यक्ति प्राप्त धन का न दान देते हैं, न भोग करते हैं, उनका धन नियम से नष्ट हो जाता है।

दानं भोगं नाशं, तिस्रः गतयः भवन्ति वित्तस्य।

यो न ददाति न भुक्ते तृतीयोगति भवति तस्य॥

सत्कार्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसका दातार ही अपनी दृष्टि के अनुसार निर्णय करते हैं, चार प्रकार के दानों में ज्ञानदान को जिनागम में सर्वश्रेष्ठ माना है। प्यासे को पानी पिलाने से हम उसका ४ घंटे का दुःख दूर करते हैं, भूखे को भोजन देकर ८ घंटे की आकुलता कम करते हैं, रोगी को औषधि देकर ४-६ माह का दुःख दूर करते हैं और अज्ञानी को तत्त्वोपदेश देकर हम उसके जन्म-जन्मान्तर सुधार सकते हैं। अतः यथाशक्ति सभी दान करना चाहिए।

अतः सभी बन्धुओं से विनम्र निवेदन है कि भाग्य से प्राप्त धन को अच्छे कार्यों में खूब खर्च करो।



१५

जैन साधु दिगम्बर क्यों होते हैं

यहाँ ‘दिगम्बर’ शब्द का अर्थ है - दिशायें ही अम्बर (वस्त्र) जिनके, वे साधु दिगम्बर कहलाते हैं। वे वस्त्र पहनते ओढ़ते नहीं है। जैन साधु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त और सभी प्रकार के आरंभ परिग्रह से रहित ज्ञान-ध्यान व तप में निमग्न रहते हैं, इस कारण वे नग्न ही रहते हैं, दिगम्बर ही रहते हैं। धरती उनका बिछौना एवं आकाश उनका उड़ौना होता है।

दिगम्बर मुनियों के हृदय में सब जीवों के प्रति पूर्ण समता भाव होता है। उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दा-प्रशंसा आदि में कोई अन्तर नहीं होता। वे पद पूजक व अस्त्र-शस्त्र प्रहारक में सदा समता भाव रखते हैं।

जैन साधु पूर्ण स्वावलम्बी और स्वाभिमानी होते हैं, उन्हें किंचित् भी पराधीनता स्वीकृत नहीं हैं, एतदर्थ दिगम्बरत्व अनिवार्य है। सवस्त्र कभी पूर्णरूपेण स्वावलम्बी नहीं रहा जा सकता। वस्त्रों के साथ कितनी पराधीनता है - यह बात किसी भी वस्त्रधारियों से छिपी नहीं है। अतः जैन साधु नग्न दिगम्बर ही होते हैं।

जब अर्द्धरात्रि में सारा जगत मोहनींद में सो रहा होता है। अथवा विषयावासनाओं में मग्न होकर मुक्ति के निष्कंटक पथ में विषकंटक वो रहा होता है, तब जैन साधु-दिगम्बर मुनि अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं के माध्यम से संसार, शरीर व भोगों की असारता का एवं जगत के स्वरूप का चिन्तन-मनन करते हुए आत्मध्यान में मग्न रहने का पुरुषार्थ करते रहते हैं। काम-क्रोध, मद-मोह आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते रहते हैं।

ऐसे आत्म साधक जैन साधु नवजात शिशुवत अत्यन्त निर्विकारी होने से नग्न ही रहते हैं। उनकी नग्नता निर्विकार की सूचक है बालक वत् उन्हें वस्त्र धारण करने का विकल्प ही नहीं आता, आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। जिस तरह काम वासना से रहित बालक माँ-बहिन के समक्ष लजाता नहीं है, शरमाता नहीं है, संकोच भी नहीं करता। माँ-बहिनों को भी उसे नग्न देखने से, गोद में लेने से, अपना स्तनपान कराने से भी संकोच नहीं होता, लज्जा नहीं आती; ठीक इसी तरह निर्विकारी मुनिराजों को भी लज्जा नहीं आती। उनके दर्शन से भक्तों को भी कोई संकोच नहीं होता। फिर बिना प्रयोजन जैन साधु वस्त्रों का बोझा क्यों रखें। इस शरीर के लिए परिग्रह की पोटली क्यों बाँधे। उन्हें धोने आदि का हिंसोत्पादक पापारंभ क्यों करें?

जैनदर्शन के अनुसार जैन साधु की निर्मल परिणति में छठवें-सातवें गुणस्थान की सर्वोच्च-सर्वश्रेष्ठ भूमिका होती है, जिसमें अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया व लोभ कषायों का अभाव हो जाता है, अतः इस भूमिका में वस्त्रग्रहण करने का भाव ही नहीं आता। यदि कोई बलात् पहना दें तो वे उसे उपसर्ग (आपतित संकट) मानकर उस उपसर्ग के दूर न होने तक खान-पान का त्याग कर देते हैं।

संज्वलन क्रोध-मान माया लोभ कषाय के सिवाय अनन्तानुबंधी आदि उपर्युक्त तीनों कषायों की चौकड़ी का अभाव हो जाने से उनके पूर्ण निर्ग्रन्थ दशा प्रगट हो गई है।

इस तरह जब उनके मन में ही, आत्मा में ही कोई ग्रन्थि (गाँठ) नहीं रही तो तन पर वस्त्र की गाँठ कैसे लगी रह सकती है। अतः जैनसाधु दिगम्बर ही होते हैं।

वैसे सवस्त्र व निर्वस्त्र दोनों ही पहलुओं के पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं, उनके लाभ-अलाभ गिनाये जा सकते हैं। पर वे

सब कुतर्क होंगे; क्योंकि वस्तु के स्वरूप में कोई तर्क नहीं चलता। वस्तु का स्वरूप तो तर्क-वितर्क से परे है। अग्नि गर्म व पानी ठंडी क्यों है? नारी के मूँछें व मोरनी के पंख क्यों नहीं होते? इसके पीछे तर्क खोजने की जरूरत नहीं है।

लौकिक दृष्टि से भी साधुओं को सामाजिक सीमाओं में नहीं घेरा जाता, क्योंकि वे लोक व्यवहार से ऊपर उठ चुके हैं, व्यवहारातीत हो गये हैं। वे तो वनवासी सिंह की भाँति पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी और अत्यन्त निर्भय होते हैं। इसी कारण वे मुख्यतया वनवासी होते हैं।

यदि कोई पवित्र भावना से जैन साधु के दिगम्बरत्व या नग्नता के कारणों पर गंभीरता से विचार करें मीमांसा करना चाहे तो निम्नांकित बिन्दु विचारणीय है :-

जैन साधु का दिगम्बरत्व या नग्नता निर्दोषता, निर्भयता, निःशंकता, निर्विकारता, निश्चिन्तता, निर्लोभता एवं निर्विकारता की परिचायक है। अर्थात् जैन साधु निर्दोष हैं, निर्भय हैं, निःशंक हैं, निर्विकार हैं, निश्चिंत हैं, निर्लोभी हैं, और निर्विकार हैं अतः नग्न हैं तथा पूर्ण स्वाधीन हैं, संयमी हैं, सहिष्णु हैं, अतः नग्न हैं, निष्परिग्रही हैं।

वस्त्र विकार के प्रतीक हैं, लज्जा आदि काम विकार को ढकने व छुपाने के साधन हैं। भय, चिन्ता व आकुलता उत्पन्न कराने में प्रबल हेतु हैं। ममत्व-मोह बढ़ाने में निमित्त हैं। अतः मुनि नग्न ही रहते हैं।

दो-तीन वर्ष तक के बालकों में काम-विकार नहीं होता तो उसे नग्न रहने में लज्जा नहीं आती। अतः जैन साधु नग्न ही रहते हैं।

जो इन्द्रियों को जीतता है, वह जितेन्द्रिय है इस अर्थ में जैन साधु जितेन्द्रिय हैं। नग्नता जितेन्द्रिय होने का पक्का प्रमाण है।

जिसे अखण्ड आत्मा को प्राप्त करना है, उसे अखण्ड स्पर्श इन्द्रिय को जीत ही लेना चाहिए।

नग्नता स्पर्श इन्द्रिय पर विजय प्राप्त होने की पहचान है। जिस तरह शरीर में लगी एक छोटी सी फाँस भी असह्य वेदना का कारण बनती है, उसी तरह एक वस्त्र का भी परिग्रह असीम दुःख का कारण है और जब दिगम्बर मुनि को जितेन्द्रिय होने से वस्त्रादि की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता तो वे वस्त्रादि परिग्रह रखकर अनावश्यक एक नई झंझट मोल क्यों ले? आकुलता को आमंत्रण क्यों दें? वस्त्रादि की संभाल करना, उनके रख-रखाव की चिन्ता करना, धुलाई की व्यवस्था करना, नवीन वस्त्रों की व्यवस्था करना - यह सब सहज नहीं होता है।

जब व्यक्ति को एक वस्त्र की झंझट छूट जाने से हजारों अन्य झंझटों से सहज ही मुक्ति मिल जाती हो तो वह बिना वजह वस्त्र का बोझा ढोए ही क्यों? एक लंगोटी को स्वीकार करते ही पूरा का पूरा परिग्रह माथे मढ़ जाता है। एक लंगोटी स्वीकार करते ही दूसरे दिन बदलने को दूसरी लंगोटी चाहिए या नहीं? उसे धोने को पानी-सोडा-साबुन, रख-रखाव के लिए पेट्टी, पानी के लिए बर्तन, बर्तन के लिए (कोठरी) ताला-चाबी, घर के लिए घरवाली। घरवाली के भरण-पोषण के लिए धंधा-व्यापार। कहाँ जाकर अन्न आयेगा इसका। फिर हममें तुममें और साधु में अन्तर ही क्या रहेगा? इसीलिए तो पूजन की पंक्ति में कहा है -

“फाँस तनक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भालें”

सवस्त्र साधु पूर्ण अहिंसक निर्मोही और अपरिग्रही रह ही नहीं सकता। स्वाधीन व स्वावलम्बी भी नहीं रह सकता। वह लज्जा परिषह जयी भी नहीं है।

अन्नपान (भोजन) के पक्ष में भी कदाचित कोई यही तर्क दे सकता है, पर आहार लेना अशक्यानुष्ठान है। आहार के बिना तो जीवन ही संभव नहीं है, पर वस्त्र के साथ ऐसी कोई समस्या नहीं है। वस्त्र के बिना जीवन संभव है, संभव तो है ही वस्त्रधारियों की अपेक्षा सुखद हैं, प्राकृतिक है अतः स्वास्थ के भी अनुकूल है।

दूसरे, भोजन यदि स्वाभिमान के साथ न मिले, निर्दोष न मिले एवं निरन्तराय न मिले तो छोड़ा भी जा सकता है, छोड़ भी दिया जाता है, पर वस्त्र के साथ ऐसा होना संभव नहीं है। उसे तो हर हालत में धारण करना, यथा समय बदलना ही होगा। रख-रखाव की व्यवस्था भी करनी ही होगी। अतः वस्त्र धारण करने में दीनता-हीनता-पराधीनता और आकुलता की संभावना सर्वाधिक है।

दिगम्बरत्व मुनिराज या साधु का भेष या ड्रेस नहीं है, जिसे मनमाने ढंग से बदला जा सके। यह तो साधु का स्वाभाविक स्वस्थ रूप है। अपने मन को इस दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता स्वीकृत होने में ही दिगम्बरत्व होता है।

इस संदर्भ में एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्के की उस घटना का स्मरण किया जा सकता है जिसमें वह सारे नगर में नंगा नाचा था।

उसके बारे में कहा जाता है कि वह एक वैज्ञानिक सूत्र की खोज में बहुत दिनों से परेशान था। दिन-रात उसी की खोज में डूबा रहता था। एक दिन बाथरूम में नग्न होकर स्नान कर रहा था कि अचानक उसे उस बहु प्रतीक्षित अन्वेषणीय सूत्र का समाधान मिल गया, जिससे उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह भाव विभोर हो गया। राजा को यह खुश की खबर सुनाने के लिए स्नानघर से वैसा नंगा ही बाहर निकलकर भरे बाजार के मार्ग से दौड़ता हुआ राजा के पास जा पहुँचा। उसे नग्न देख राजा को आश्चर्य भी हो रहा था और मन ही मन हंसी भी आ रही थी; परन्तु उस वैज्ञानिक को कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लग रहा था। वह अपनी धुन का धनी अपनी ही गाये जा रहा था।

वस्तुतः ऐसी धुन के बिना, जिसमें व्यक्ति अन्य सब कुछ भूल सा जाता है, अपने लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है। चाहे वह भौतिक विज्ञान की खोज हो या आत्म विज्ञान की, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की खोज हो। अतः सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के खोजी मुनिराज नग्न ही होते हैं।

दिगम्बरत्व को स्वाभाविकता, सहजता और निर्विकारिता के साथ उसकी अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनिराज की नग्नता में असभ्यता व असामाजिकता जो दृष्टि गोचर होती है, वह उनके दृष्टिकोण का फेर है। ऐसे लोग समय-समय पर नग्नता जैसे सर्वोत्कृष्ट रूप से नाक भौं सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं। पर उन्हें नग्नता को मात्र निर्विकार दृष्टि से देखना चाहिए। अन्य दर्शनों में भी नग्नता को ही साधु का उत्कृष्टतम रूप माना गया है। परमहंस नामक पर मत के साधु भी नग्न ही रहते हैं - ऐसा उनके ही पुराणों में उल्लेख है।

हाँ, निर्विकारी हुए बिना नग्नता निश्चित ही निन्दनीय है नग्नता के साथ निर्विकार होना अनिवार्य है। केवल तन से नग्न होने का नाम दिगम्बरत्व नहीं है। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारी भावों से मन (आत्मा) की नग्नता के साथ तन की नग्नता ही सच्चा दिगम्बरत्व है। ऐसी नग्नता को कभी भी लज्जाजनक अशिष्ट एवं अश्लील नहीं कहा जा सकता। ऐसी नग्नता तो परम पूज्य है।

हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध पुराण पुरुष शुक्राचार्य के कथानक से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि तन की नग्नता के साथ मन का निर्विकारी होना आवश्यक है, अन्यथा जो नग्नता पूज्य है वहीं निन्दनीय हो जाती है।

कहा जाता है कि शुक्राचार्य युवा थे, पर शिशुवत् निर्विकारी थे। अतः सहज भाव से नग्न रहते थे। एक दिन वे तलाव के किनारे से जा रहे थे, तलाव में कुछ कन्यायें निर्वस्त्र होकर स्नान कर रहीं थीं, वे उन्हें देख जरा भी नहीं लजाई। वे कन्यायें व शुक्राचार्य एक दूसरे की नग्नता से जरा भी प्रभावित नहीं हुए।

थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के वयोवृद्ध पिता वहाँ से निकले। उन्हें देखते ही सभी कन्यायें लज्जा गईं। न केवल लजाई क्षुब्ध भी हो गईं। जल क्रीड़ा को जलांजलि देकर भागी और सबने अपने-अपने वस्त्र पहन लिए तथा लज्जा से उनकी आँखें जमीन में गड़ गईं।

देखो! वे कन्यायें युवक को नग्न देखकर तो लजाई नहीं और एक वृद्ध व्यक्ति को देखकर लजा गईं। जरा सोचिए इसका क्या कारण हो सकता है? बस यही न कि तन से नंगा युवक मन से भी नंगा था, निर्विकारी था, और उसके पिता अभी मन से पूर्ण निर्विकारी नहीं हो सके थे। यह बात नारियों की निगाह से छिपी नहीं रही, रह भी नहीं सकती। कोई कितना भी छिपाये, पर मन का विकार तो सिर पर चढ़कर बोलता है।

“मुखाकृति कह देत है, मैले मन की बात”

नग्नता से नफरत करने का अर्थ है कि हमें अपना निर्विकारी होना पसन्द नहीं है। पापी रहना व उसे वस्त्रों से छुपाये रहना ही पसंद है। शरीर में हरे-भरे घावों को खुला रखना भी मौत को आमंत्रण देना है। अतः यदि मन में विकार के घाव हैं तो तन को वस्त्र से ढकना ही होगा।

पर ध्यान रहे, तन की नग्नता के साथ मन की नग्नता (मन को निर्विकारी) होना ही चाहिए, अन्यथा कोई लाभ नहीं होगा। नग्नता कलंकित ही होगी, अपमानित भी होगी? इसीलिए तो कहा है -

“सम्यग्ज्ञानी होय वहुरि दृढ़ चारित लीजे।”

बिना आत्मज्ञान के भी कभी-कभी व्यक्ति मुनिव्रत अंगीकार कर लेता है, पर उससे कोई लाभ नहीं होकर उल्टा सद्निमित्तों से दूर ही हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव भावपाहुड़ में स्वयं लिखते हैं -

“गगगो पावह दुःखं, गगगे संसार सायरे भमइ।

गगगो न लहहि बोहि, जिन भावणं वज्जिओ सुइदं

जिन भावना से रहित केवल तन नग्न व्यक्ति दुःख पाता है, वह संसार सागर में ही गोते खाता है, उसे बोध की प्राप्ति नहीं होती अतः तन से नग्न होने के पहले मन से नग्न अर्थात् निर्विकारी होना आवश्यक है।

जिनागम के सिवाय अन्य जैनेतर शास्त्रों एवं पुराणों में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख मिलते हैं।

रामायण के सर्ग १४ के २२वें श्लोक में राजा दशरथ जैन श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं। भूषण टीका में श्रमण का अर्थ स्पष्ट रूपेण दिगम्बर मुनि ही किया है। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण में ऋषभदेव का दिगम्बर मुनि के रूप में उल्लेख है। वायुपुराण, स्कन्ध पुराण में भी दिगम्बर मुनि का अस्तित्व दर्शाया गया है। ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि आदम और हव्वा नग्न रहते हुए कभी नहीं लजाये और न वे विकास के चंगुल में फँसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे। परन्तु जब उन्होंने पाप-पुण्य का वर्जित (निषिद्ध) फल खा लिया तो वे अपनी प्राकृतदशा खो बैठे और संसार के साधारण प्राणी हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास एवं इतिहासातीत श्रमण एवं वैष्णव साहित्य के आलोक में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर मुनि हुए बिना मोक्ष की साधना एवं केवल्यप्राप्ति संभव ही नहीं हैं।



आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न है

यह आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न है। जैसे - चिन्तामणि रत्न को चिन्तामणि रत्न के रूप में ही सदैव रहने के लिये नया कुछ करना नहीं पड़ता, उसमें कुछ मिलाना या उसमें से कुछ हटाना-निकालना नहीं पड़ता; ठीक उसी भाँति चैतन्य चिन्तामणि आत्मा को आत्मा के रूप में ही सदैव रहने के लिये नया कुछ नहीं करना पड़ता। आत्मा अपने आप में एक ऐसा परिपूर्ण पदार्थ है, जिसे पूर्ण सुखी रहने के लिये कुछ भी नहीं करना पड़ता।

जैसे बहुमूल्य मणियों की माला मात्र देखने-जानने और आनन्द लेने की वस्तु है; बस उसीतरह यह आत्मा अमूल्य चैतन्य चिन्तामणि है।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-७८

१६

भगवान महावीर के विश्वव्यापी संदेश

भगवान महावीर के संदेशों के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्मा है अर्थात् - शक्तिरूप में सभी जीवों में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, योग्यता है। अपने स्वरूप को या स्वभाव को जानने से, पहचानने से और उसी में जमने-रमने से, उसी का ध्यान करने से वह अव्यक्त स्वाभाविक परमात्म शक्ति पर्याय में प्रगट हो जाती है। यही आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया है।

जिस तरह मूर्तिकार पहले पत्थर में छुपी हुई (अव्यक्त) प्रतिमा को अपनी भेदक दृष्टि से, कल्पना शक्ति से देख लेता है, जान लेता है, पश्चात् उस कल्पना को पूर्ण विश्वास के साथ साकार रूप प्रदान कर देता है।

जिसतरह एक्स-रे मशीन हमारे शरीर के ऊपर पहने कपड़े, शरीर पर मड़े चमड़े और माँस-खून आदि के अन्दर छिपी टूटी हुई हड्डी का फोटोग्राफ ले लेती है; ठीक उसीप्रकार साधक जीव अपनी ज्ञान-किरणों से, शरीर का, द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों एवं रागादि विकारीभावों का आत्मा से भेदज्ञान करके उसके अन्दर छिपे ज्ञानानन्द स्वभावी, सत् चित-आनन्दमय, अलख निरंजन भगवान आत्मा का दर्शन कर लेता है, आत्मा का अनुभव कर लेता है।

पुराण कहते हैं कि यही भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति का काम भगवान महावीर के जीव ने अपनी दस भव पूर्व शेर की पर्याय में आकाशमार्ग से आये दो मुनिराजों के सम्बोधन से प्रारंभ किया था और दस भव बाद महावीर की पर्याय में उस मुक्तिमार्ग की प्रक्रिया को पूरा कर वे परमात्मा बन गये।

महावीर भी जन्म से भगवान नहीं थे। उन्होंने ३० वर्ष की उम्र से ४२ वर्ष की उम्र तक १२ वर्षों की अपूर्व आत्मसाधना से परमात्म दशा प्राप्त की थी।

वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवनदर्शन को जब हम महावीर पुराण के आलोक में देखते हैं तो हमें उनसे प्रेरणा मिलती है कि जब एक पूँछवाला पशु साधारण आत्मा से परमात्मा बन सकता है, तो हम तो मूछवाले मानव हैं, हम अपना कल्याण क्यों नहीं कर सकते, हम नर से नारायण क्यों नहीं बन सकते?

भगवान महावीर के संदेश न केवल विश्वव्यापी हैं, वे सार्वजनिक एवं सार्वकालिक भी हैं। भगवान महावीर के संदेशों को हम यदि संक्षेप में कहें तो विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद, आचरण में अहिंसा और व्यवहार में अपरिग्रह के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद दार्शनिक (वस्तुपरक) सिद्धान्त है और अहिंसा व अपरिग्रह इन्हीं सिद्धान्तों का आचरणीय व्यावहारिक स्वरूप है। इसे ही संक्षेप में कहें तो वस्तुतः जैनदर्शन **वस्तुस्वभाव और स्वसंचालित वस्तुव्यवस्था** का ही दूसरा नाम है। इसे किसी तीर्थंकर विशेष ने बनाया नहीं है; बल्कि सभी तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा, अपने दिव्य संदेशों द्वारा मात्र बताया है, प्रचारित किया है।

विश्व में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, ऐसा कोई काल नहीं जहाँ और जब सभी जीवों ने हिंसा झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह को बुरा तथा अहिंसा, अपरिग्रह आदि को भला न माना हो। इसतरह महावीर के संदेशों का व्यावहारिक पहलु तो विश्वव्यापी है ही; सार्वजनिक है ही; सिद्धान्त भी अद्भुत है, अलौकिक है।

विश्व में मात्र छह द्रव्य हैं, जिनका एक नाम वस्तु है और छः कहें तो - १. जीवद्रव्य, २. पुद्गलद्रव्य, ३. धर्मद्रव्य, ४. अधर्मद्रव्य, ५.

आकाशद्रव्य, ६. कालद्रव्य हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तान्त हैं, धर्मद्रव्य, अधर्म व आकाशद्रव्य एक-एक हैं और कालाणु असंख्यात हैं।

ये सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी तथा नित्य परिणमनशील हैं। इनकी अपनी कार्य-कारण व्यवस्था स्व-चालित है। इनमें पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं, उनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि नहीं होते। अतः इनकी यहाँ विशेष जानकारी आवश्यक नहीं है, संभव भी नहीं है। जीव एक चेतन द्रव्य है, जो अनादिकाल से ही अपने स्वभाव से च्युत है और रागादिवश संयोगों में अटका है। इसप्रकार इसके राग-द्वेष (संयोगीभाव) होते रहते हैं। इन राग-द्वेष के विनाश से ही वीतरागता रूप धर्म प्रगट होता है।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, अनन्त शक्तियाँ हैं एवं नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि परस्पर विरोधी अनन्त धर्म हैं, इन्हीं धर्म, गुण या शक्तियों की पिण्ड रूप वस्तु को **अनेकान्त** कहते हैं। 'अनेकान्त' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - अनेक+अन्त। यहाँ अन्त का अर्थ धर्म होता है। इसप्रकार अनन्त धर्मात्मक या गुणात्मक वस्तु को ही **अनेकान्त** कहते हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों को एकसाथ कहा नहीं जा सकता। इन्हीं धर्मों को मुख्य-गौण करके क्रम से एक के बाद एक का कथन करने, वाणी में व्यक्त करने को स्याद्वाद कहते हैं। स्यात्=सापेक्ष, वाद=कथन वस्तु के अनेक धर्मों को एकसाथ कहने की वाणी में सामर्थ्य नहीं होती, अतः मुख्य-गौण की व्यवस्था से एक को मुख्य रखकर कहना एवं शेष को गौण रखना ही स्याद्वाद है। **स्याद्वाद और अनेकान्त में वाचक-वाच्य सम्बन्ध है, प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध है।**

'जैनधर्म' किसी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय या पंथ विशेष का नाम नहीं है, क्योंकि जैनधर्म का प्रतिपादन करनेवाले सभी - चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय थे, तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि को शास्त्र का स्वरूप

देनेवाले उनके प्रमुख शिष्य गणधर ब्राह्मण थे और इसे धारण करनेवाले अधिकांश व्यक्ति वणिक हैं। यह बात केवल भगवान महावीर के गणधर गौतम स्वामी के संदर्भ में ही लेना अन्य के नहीं, क्योंकि सभी तीर्थकरों के गणधरों के ब्राह्मण ही थे - ऐसा नहीं है। अतः किसी व्यक्ति विशेष के कुछ सिद्धान्तों या मान्यताओं का नाम जैनधर्म नहीं है। इसे किसी तीर्थकर विशेष ने बनाया नहीं है, मात्र बताया है।

वस्तुतः 'जैनधर्म' उस वस्तुस्वरूप का नाम है, जो अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। जिसप्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है, पानी का स्वभाव शीतलता है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, क्षमा है, सरलता आदि है। अज्ञान, काम, क्रोध, मद, मोह, क्षोभ, हिंसा, असत्य आदि आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है, विकारी भाव हैं; अतः ये अधर्म हैं। उत्तम क्षमा, हृदय की सरलता, सत्य, शौच, संयम, तप-त्याग-आकिंचन और अहिंसा आदि आत्मा के स्वभाव भाव हैं, अतः ये धर्म हैं।

आत्मा के उपर्युक्त स्वभाव और विभाव को जाने-पहचाने बिना उस स्वभाव की प्राप्ति और विभावों का अभाव होना संभव नहीं है। इस संदर्भ में महाकवि तुलसीदासजी का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है - "संग्रह-त्याग न बिनु पहचाने।" कविवर दौलतरामजी भी यही कहते हैं - "बिन जाने तें दोष गुनन को कैसे तजिए गहिए?"

आत्मा के इस स्वभाव को जानना-पहचानना ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और यही मुक्ति का मार्ग है।

इस आत्मज्ञान के साथ वीतरागता एवं समताभाव प्राप्त करने के लिए स्व-संचालित विश्वव्यवस्था समझना भी अति आवश्यक है। इसके समझने से ही हमारा अन्तर्द्वन्द्व और बाहर का संघर्ष समाप्त हो सकता है। हम निश्चित और निर्भार होकर अन्तर आत्मा का ध्यान कर सकते हैं, जो हमें पुण्य-पापरूप कर्म बन्धन से मुक्त कराकर वीतराग धर्म की प्राप्ति करा

सकता है। एतदर्थ भगवान महावीर की देशना का रहस्य जिनागम के अध्ययन से हम सब जानें इसी में हम सबका भला है।

एक बार महर्षि व्यास के पास उनके कुछ भक्त संक्षेप में धर्म का मर्म जानने के लिए पहुँचे और उनसे निवेदन करने लगे - "महाराज! आपने जो अठारह पुराण बनाये हैं। एक तो वह संस्कृत भाषा में हैं और दूसरे मोटे-मोटे पोथने हैं! इन्हें पढ़ने का न तो हमारे पास समय ही है और न हम संस्कृत भाषा ही जानते हैं। हम तो अच्छी तरह से हिन्दी भी नहीं जानते। अतः हमें तो आप हमारे हित की बात संक्षेप में बता दीजिए।

उनकी बात सुनकर महाकवि व्यास बोले -

"भाई! ये अठारह पुराण हमने तुम जैसे के लिए नहीं बनाये हैं, तुम्हारे लिए तो मात्र इतना ही जानना पर्याप्त है -

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

अठारह पुराणों में सार रूप में मात्र यही दो बातें कहीं हैं कि यदि परोपकार करोगे तो पुण्य होगा और पर को पीड़ा पहुँचाओगे तो पाप होगा।

मात्र इतना जान लो, इतना मान लो और सच्चे हृदय से जीवन में अपना लो - तुम्हारा जीवन सार्थक हो जायेगा।"

मानों इसीप्रकार भगवान महावीर के भक्त भी उनके पास पहुँचे और कहने लगे कि भगवन! महर्षि व्यास ने तो अपने शिष्यों को अठारह पुराणों का सार दो पंक्तियों में बता दिया; आप भी हमें जैनदर्शन का सार दो पंक्तियों में बता दीजिए; हमें भी ये प्राकृत-संस्कृत में लिखे मोटे-मोटे ग्रन्थराज समयसार, गोम्मटसार आदि पढ़ने की फुर्सत कहाँ हैं? दिनभर धंधे में चला जाता है और रात में टैक्सों के चक्कर में नं. एक और नं. दो का हिसाब-किताब जमाना पड़ता है।

तब उत्तर में भगवान महावीर यह कहते -

“अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है - यही जिनागम का सार है।” इस अहिंसा के दो रूप हैं - द्रव्यहिंसा और भावहिंसा ।

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति भावहिंसा है और प्रमाद के योग से दूसरों के प्राणों का घात करना, उन्हें नानाप्रकार से सताना, दुःख देना द्रव्यहिंसा है ।

यह द्रव्यहिंसा तीनप्रकार से होती है - काया से, वचन से, मन से ।

काया से की गई हिंसा को तो सरकार रोकती है । यदि कोई किसी को जान से मार दे, तो उसे पुलिस पकड़ लेगी, उस पर मुकदमा चलेगा और फाँसी की सजा हो जायेगी । इस भय से भयभीत होकर सभी द्रव्यहिंसा करने से डरते हैं ।

यदि कोई किसी को वाणी (वचन) से मारे अर्थात् जान से मारने की धमकी दे, गालियाँ दे, भला-बुरा कहे तो सरकार तो कुछ नहीं कर सकती, पर समाज उस पर प्रतिबन्ध अवश्य लगाती है । जो व्यक्ति अपनी वाणी का सदुपयोग करता है, समाज उसका सम्मान करता है और जो दुरुपयोग करता है, समाज उसकी उपेक्षा या अपमान करता है, इसप्रकार सम्मान के लोभ से एवं उपेक्षा या अपमान के भय से हम बहुत-कुछ अपनी वाणी पर संयम रखते हैं ।

पर यदि कोई किसी को मन में गालियाँ दे, जान से मारने का भाव करे तो उसका क्या बिगाड़ लेगी समाज और क्या कर लेगी सरकार? अतः न जहाँ सरकार की चलती है और न जहाँ समाज की चलती है, धर्म का काम वहाँ से आरम्भ होता है; अतः भगवान महावीर ने ठीक ही कहा है - आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा

में रागादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है - यही जिनागम का सार है ।

यदि मन में क्रोधादि विकार रूप हिंसा का भाव पैदा हो जायेगा तो वाणी में आयेगा ही और वाणी में आयेगा तो काया के द्वारा प्रवृत्ति होगी ही । अतः भगवान महावीर ने मात्र द्रव्यहिंसा से बचने की ही बात नहीं कही; बल्कि भावहिंसा पर ही रोक लगाना आवश्यक माना है । हिंसा का भाव मन में (आत्मा में) उत्पन्न ही न हो, तभी हम द्रव्य हिंसा से बच सकते हैं ।

उदाहरणार्थ - यदि हमें शराबबन्दी करना हो तो ‘लोग शराब न पियें’ - क्या ऐसा कठोर कानून बनाने से शराबबन्दी सफल हो जायेगी? नहीं होगी; क्योंकि जबतक कहीं न कहीं चोरी-चोरी शराब का उत्पादन होता रहेगा, तो वह मार्केट में आयेगी ही और मार्केट में भी आयेगी तो लोगों के पेट में जायेगी ही और लोगों के पेट में जायेगी तो माथे में भन्नायेगी ही, अतः यदि हम चाहते हैं कि शराब माथे में न भन्नाये, लोग शराब न पिये तो हमें उन अड़्डों को बन्द करना होगा जहाँ शराब बनती है ।

इसीप्रकार यदि हम चाहते हैं कि जीवन में हिंसा प्रस्फुटित ही न हो तो हमें उसे आत्मा के स्तर पर, मन के स्तर पर ही रोकना होगा; क्योंकि यदि आत्मा या मन के स्तर पर हिंसा उत्पन्न हो गयी तो वह वाणी और काया के स्तर पर भी प्रस्फुटित होगी ही ।

जब तक लोगों की आत्मा में निर्मलता नहीं होगी, तबतक हिंसा को रोकना संभव नहीं होगा । अतः हमें वस्तुस्वरूप समझकर पर पदार्थों में हो रही इष्टानिष्ट की मिथ्या कल्पना को मेटना होगा, तभी हमारे राग-द्वेष के भाव कम होंगे और वीतराग धर्म की ओर अग्रसर हो सकेंगे हिंसा आदि मनोविकारों से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

एक बात का मुझे बार-बार विचार आता है कि न केवल भगवान महावीरस्वामी, बल्कि वर्तमान चौबीसी के सभी तीर्थंकर जब क्षत्रियवर्ण के थे और भगवान महावीरस्वामी के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी भी ब्राह्मणवर्ण के थे; तो फिर भी उनके द्वारा प्रचारित-प्रसारित यह जैनधर्म जैसी अनुपमनिधि वणिकों के हाथ कैसे लगी ? अधिकांश वणिकवर्ण ने ही इसे क्यों अपनाया ?

अस्तु, कारण कुछ भी हो, पर वणिकबुद्धि की दाद तो देनी ही पड़ेगी; क्योंकि असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य कर्मों में तो वणिकवर्ण ने वाणिज्य को चुनकर अपनी विशेष बुद्धि का परिचय दिया ही है, भगवान महावीर की देशना को धारण कर **अन्तर के लक्ष्यों अयाचीक लक्षपति** बनने का काम भी इन्होंने ही किया है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह के साथ-साथ जिसमें आत्मशान्ति के और जनकल्याणक के अद्भुत सिद्धान्त हैं - ऐसी महावीर की दिव्यदेशना को अपनाकर वणिक वर्ण ने अपना मानव जन्म सार्थक करने का अमोघ उपाय अपनाया है।

बस, इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि जिस वस्तु को या जिस कर्म एवं धर्म को इस वैश्यवर्ण ने अपनाया होगा, वह लाभदायक तो होगा ही, सुखद भी होगा; क्योंकि वणिक घाटे का सौदा कभी नहीं करते। वैश्यों की इसी वणिकबुद्धि ने वर्ण व जाति की परवाह न करके भगवान महावीर और गौतम गणधर द्वारा निरूपित जैनदर्शन को अपना लिया होगा। उन्होंने न केवल इसे अपनाया; बल्कि इसके तल तक पहुँचने के लिए इसे निरन्तर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का विषय भी बनाया।

इन वर्णों की स्थापना के समय इनमें कोई छोटे-बड़े जैसा भेदभाव नहीं था। सभी वर्ण समान देखे जाते थे; परन्तु धीरे-धीरे व्यक्तियों की बौद्धिक प्रतिभा और काम करने की क्षमता एवं योग्यता के अनुसार इन

वर्णों में सहज ही छोटे-बड़े का व्यवहार बन गया, जो स्वाभाविक ही था; प्रथम श्रेणी और चतुर्थ श्रेणी में जो अन्तर है, वह तो रहेगा ही, उस अन्तर को कौन मिटा सकता है?

जैनदर्शन में श्रद्धा रखनेवाले जैन पुराणों के अध्येता तो यह सब जानते ही हैं, मानते ही हैं कि जैनधर्म अनादि-निधन है। इस अनादि-निधन सृष्टि में तीर्थंकरों की अनेक चौबीसियाँ हो चुकी हैं और आगे भी होंगी। उन्हीं में भगवान महावीर वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर हैं। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उन्हीं भगवान महावीरस्वामी का जन्मकल्याणक दिवस, जिसे आज महावीर जयन्ती नाम से जाना जाता है, समस्त देश एवं विदेशों में भी बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है।

वस्तुतः जयन्ती और जन्मकल्याणक में बहुत बड़ा अन्तर है। जयन्तियाँ तो पुनर्जन्म लेनेवाले बड़े लोगों की भी मनाई जाती हैं, जबकि जन्मकल्याणक उन्हीं का मनाया जाता है, जिन्होंने जन्म-मरण का नाश कर सिद्धपद प्राप्त कर लिया है।

यद्यपि आज भगवान महावीर यहाँ नहीं हैं; परन्तु उनकी वह दिव्यदेशना आज यहाँ द्वादशांग के सार के रूप में मौजूद है। इसका भरपूर लाभ हमें मिल सकता है, मिल रहा है। उसको पढ़ने/समझने की पात्रता तो हममें है। बस, थोड़ी रुचि की जरूरत है।

‘जैनधर्म’ किसी पंथ विशेष का नाम नहीं है। किसी व्यक्ति विशेष के कुछ सिद्धान्तों या मान्यताओं का नाम भी ‘जैनधर्म’ नहीं है। किसी तीर्थंकर विशेष ने इसे चलाया नहीं है, वस्तुतः ‘जैनधर्म’ उस वस्तुस्वरूप का नाम है, जो अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। जिसप्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है, पानी का स्वभाव शीतलता है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभावमात्र ज्ञान है, क्षमा है, सरलता है, ये आत्मा के धर्म हैं। अज्ञान, काम, क्रोध, मद, मोह, क्षोभ, हिंसा, असत्य आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं, विकारी भाव हैं। अतः ये अधर्म हैं।

आत्मा के स्वभाव और विभाव को जाने-पहिचाने बिना उक्त स्वभाव की प्राप्ति और विभावों का अभाव होना संभव नहीं है।

आत्मा के इस स्वभाव को जानना-पहिचाना ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और इसी स्वभाव में स्थिरता, जमना, रमना सम्यक्चारित्र है और यही मुक्ति का मार्ग है।

इस आत्मज्ञान के साथ स्व-संचालित विश्वव्यवस्था समझना भी अति आवश्यक है। इसके समझने से हमारा अन्तर्द्वन्द्व और बाहर का संघर्ष समाप्त हो सकता है। हम निश्चिन्त और निर्भर होकर अन्तर आत्मा का ध्यान कर सकते हैं, जो हमें पुण्य-पापरूप कर्मबन्धन से मुक्त करा कर वीतरागधर्म की प्राप्ति करा सकता है। एतदर्थ भगवान महावीर की देशना का रहस्य जिनागम के अध्ययन से हम सब जाने। इसी में हम सबका भला है।

पुराणों में तीर्थकरों एवं महापुरुषों के पूर्वभवों का ही वर्णन क्यों किया गया है, उनकी पीढ़ियों का क्यों नहीं, वंशावलि का क्यों नहीं?

जिन्होंने भी पुराण पढ़े या सुने हैं, उन्होंने पाया होगा कि उनमें महापुरुषों के पूर्वभवों का वर्णन ही विस्तार से है, पीढ़ियों का नहीं। माता-पिता के सिवाय अधिकांश किसी भी पीढ़ी का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा क्यों हुआ? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विचारणीय विषय है। इसमें लौकिक व पारलौकिक - दोनों दृष्टियों से अनेक तथ्य निहित हैं। भगवान महावीर के पूर्वभवों की प्रासंगिक उपयोगिता की गहराइयों में उतर कर देखें वहाँ भी लौकिक एवं पारलौकिक - दोनों दृष्टियों से अनेक तथ्य निहित हैं।

पारलौकिकदृष्टि से विचार करें तो सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि पूर्वभवों के ज्ञान से आत्मा की अनादि-अनन्तता सिद्ध होती है

और आत्मा की अनादि-अनन्तता की श्रद्धा से हमारा सबसे बड़ा भय-मरणभय समाप्त होता है।

दूसरे, असंख्य भवों में हुए सुख-दुःख रूप उतार-चढ़ाव के अध्ययन से **पुण्य-पाप का स्वरूप ख्याल में आता** है और उसके फल में नाना प्रकार के अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं के परिचय से पुण्य-पाप तथा आस्रव-बंध तत्वों की यथार्थ प्रतीति आती है।

तीसरे, पुण्य-पाप आदि से भिन्न भगवान आत्मा के **पहचानने का सु-अवसर प्राप्त होता** है। पूर्वभवों से ही अपने आत्मा का सीधा सम्बन्ध है, पीढ़ियों से नहीं। अतः पीढ़ियों के परिचय की आवश्यकता नहीं है।

लौकिक दृष्टि से चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे हृदयों में जो नीच-ऊँच, अमीर-गरीब का भेद, धर्म और संस्कृति का भेद अथवा प्रान्त और भाषा आदि के भेद के कारण जातिवाद, वर्गवाद, प्रान्तीयता और भाषायी भेद उभरते हैं और इनसे संघर्ष की स्थिति बननी है। वे सब इन पूर्वभवों के वर्णन से सहज ही समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि हम पुराणों में पढ़ते हैं कि हिन्दी भाषी भाई मरकर दक्षिण में पैदा हो गया। हरिजन मरकर ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हो गया, सेठ या राजा मरकर निर्धन के यहाँ पैदा हो गया। इस प्रकार पूर्वभवों के ज्ञान से अब तक जो रंग भेद, जाति भेद, प्रान्त भेद व भाषा भेद या धर्म भेद के कारण भिन्नता की भिनभिनाहट होती थी, वह सब समाप्त हो जाती है। जो आज हिन्दू है वही कल मुसलमान हो सकता है। और तो ठीक मर कर कीड़ा-मकौड़ा भी हो सकता है, इससे कीड़ों-मकौड़ों से भी आत्मीयता हो जाती है। इसप्रकार इन सबकी सही जानकारी और श्रद्धा से देश की भी बहुत बड़ी समस्या सहज ही सुलझ सकती है। यही है पूर्वभवों के वर्णन की लौकिक व पारलौकिक उपयोगिता।

उदाहरणार्थ हम भगवान महावीर स्वामी के पूर्वभवों को देखें। जब हम इस दृष्टि से सोचते हैं तो लगता है कि - भगवान महावीर के पूर्वभव वस्तुतः हमारे आत्म-कल्याण के लिए अजस्र प्रेरणा के स्रोत हैं।

भगवान महावीर की कहानी पुरुरबा नामक भील की पर्याय से प्रारंभ होती है, पुरुरबा भील जीवनभर हिंसक-हत्यारा रहा, किन्तु प्रसंग पाकर जब वह पत्नी की प्रेरणा से गुफा में साधनारत मुनिराज की हत्या के महापाप से बच गया, तो उसका हृदय अपने पूर्व में किए दुष्कृत्यों के कारण आत्म-ग्लानि से भर उठा और पश्चाताप की ज्वाला में पापों को भस्म करके आजीवन हिंसा के त्याग के फलस्वरूप सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इससे हमें यह प्रेरणा मिलती है कि यदि अबतक हमारा जीवन पापमय भी रहा हो, तथापि शेष भावी जीवन को हम पवित्र बनाकर आत्मकल्याण कर सकते हैं।

इसीतरह मारीचि के भव में महावीर के जीव ने जीवनभर जिनवाणी का विरोध किया, ३६३ मिथ्यामतों का प्रचार किया; तथापि धर्मबुद्धि से मन्दकषायपूर्वक किए गए कार्यों के फलस्वरूप समतापूर्वक देह त्यागने के कारण वह ब्रह्म स्वर्ग में देव हुआ। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि मिथ्यात्व दशा में बहुत काल तक मंदकषाय नहीं रह सकती। यही कारण है कि मारीचि का जीव अपने १३ भव मनुष्य व देवगति में बिताकर अन्ततोगत्वा जड़वत् होकर ऐकेन्द्रिय रूप स्थावर पर्यायों में एवं दोइन्द्रियादि की त्रस पर्यायों में चला गया और वहाँ असंख्य भव धारण करना पड़े। एक ओर मंदकषाय का फल स्वर्ग बताया तो वहीं दूसरी ओर मिथ्यात्व के महापाप का फल त्रस व स्थावर योनियों में भी जाना पड़ा। एतदर्थ सबसे पहले मिथ्यात्व महापाप ही त्यागने योग्य है।

फिर वह काललब्धि के बल से पुनः ब्राह्मण कुल में जन्मा, वहाँ से चौथा स्वर्ग, फिर विश्वनंदी राजकुमार, त्रिपृष्ठ नारायण एवं सातवें नरक

के नारकी के भवों के बाद, महावीर से पूर्व दसवें भव में सिंह पर्याय में उत्पन्न हुआ।

भगवान महावीर ने आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया इसी पर्याय में प्रारंभ की थी। धन्य है वह पशु जिसने अपनी इस पामर पर्याय में उत्पन्न होकर भी आत्मा को जाना/पहचाना और मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी पर आरूढ़ हो गया।

इसप्रकार भगवान महावीर ने आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया इसी पर्याय में प्रारंभ की थी।

उपर्युक्त कथन से हम यह सबक सीख सकते हैं कि जब भील भगवान बन सकता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा-पापी जीव परमात्मा बन सकता है। शेर की पर्याय में सन्मति आ सकती है तो क्या हम मूँछ वाले समझदार कहलाने वाले मानव परमात्मा बनने का बीज भी नहीं बो सकते, क्यों नहीं बो सकते हैं? अवश्य बो सकते हैं।

तो आइये, हम सब संकल्प करें कि इस शेष जीवन को यों ही मोह-माया और विषय-कषायों में नहीं खोयेंगे। तथा जिनवाणी के अध्ययन-मनन और चिन्तन द्वारा तत्त्वाभ्यास करके परमात्मा की उपासना और आत्मा की साधना करके शीघ्र ही परमात्मपद प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

हम भगवान की आराधना करते समय इस बात को न भूलें कि हममें व भगवान में कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल भूत व वर्तमान का ही अन्तर है। अतः भगवान के सामने यह संकल्प करें कि हे महावीर! जो आप का वर्तमान है वह निःसंदेह हमारा भविष्य होगा। होगा, होगा और होगा।



१७

समयसार : संक्षिप्त सार

समयसार शास्त्र को जितना कठिन समझ लिया गया है, वस्तुतः वह उतना कठिन है नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य का मूल समयसार सुगम शैली और सरल भाषा में लिखा गया है। सरलीकरण के लिए स्थान-स्थान पर दैनिक जीवन के सरलतम उदाहरणों का प्रयोग भी उसमें हुआ है।

कठिन लगने का मूल कारण ग्रन्थ की कठिनता नहीं, बल्कि तत्सम्बन्धी अनादिकालीन अपरिचय और अनाभ्यास है। यदि हम इसका रुचिपूर्वक अभ्यास करें, नियमित स्वाध्याय द्वारा ग्रन्थ की विषयवस्तु से परिचित होने का प्रयत्न करें तो अल्पकाल में ही हमें यह ग्रन्थ अत्यन्त सरल प्रतीत होने लगेगा।

इस ग्रन्थ के कठिन लगने का दूसरा कारण इस ग्रन्थ पर लिखी गई विस्तृत एवं गंभीरतम आचार्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' एवं आचार्य जयसेन की 'तात्पर्यवृत्ति' टीकाएँ भी हो सकती हैं। यद्यपि इन दोनों टीकाओं ने आचार्य कुन्दकुन्द के हृदय के भावों को खोल कर रख दिया है, परन्तु ये टीकाएँ संस्कृत-निष्ठ और वृहदाकार होने से संस्कृत भाषा एवं सूक्ष्म तत्त्व से अनभिज्ञ पाठकों को कठिन लगना अस्वाभाविक नहीं है; परन्तु यदि चित्त स्थिर करके हिन्दी अनुवादों के माध्यम से स्वाध्याय करने का दृढ़ संकल्प कर लें तो यह काम कठिन नहीं है। किन्तु जिन्हें इस भवताप हारी एवं उत्तम सौख्यकारी-समयसार ग्रन्थ की महिमा आयेगी, वे ही ऐसा संकल्प करेंगे।

देखो इस समयसार परमागम की स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द के हृदय में कितनी महिमा थी? यह उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है। समयसार का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि -

“जो भव्य आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर और उसे अर्थ तत्त्व से जानकर अर्थभूत शुद्धात्मा में ठहरेगा, वह उत्तम सौख्य स्वरूप हो जायगा।”^१

आचार्य कुन्दकुन्द को अपने इस ग्रन्थ का नाम 'समयपाहुड' रखना ही अभीष्ट था। उन्होंने प्रथम गाथा के उत्तरार्द्ध में ग्रंथ बनाने के प्रतिज्ञा वाक्य में ग्रंथ का नामकरण करते हुए स्वयं कहा है - 'वोच्छामि समयपाहुडमिणं' अर्थात् में 'समयपाहुड' ग्रंथ को कहता हूँ। तथा अन्त में समापन करते हुए पुनः ४१५ गाथा में जो 'समयपाहुडमिणं' कहकर 'समयपाहुड' नाम की पुष्टि की है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव ने तो इस ग्रन्थ का नामकरण 'समयपाहुड' ही किया था, परन्तु बाद में प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों के नामों के समान 'समयपाहुड' भी 'समयसार' नाम से ही विख्यात हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ की १४१, १४४ एवं १४९वीं गाथा में 'समयसार' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इसी ग्रन्थ की 'आत्मख्याति' टीका के मंगलाचरण में भी 'नमः समयसाराय' की व्याख्या करते हुए कहा गया है - “समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा, उसे मेरा नमस्कार हो।” 'समयसार' नाम प्रचलन में आने का एक कारण यह भी हो सकता है; परन्तु 'समयपाहुड' व 'समयसार' दोनों नामों का अर्थ लगभग एक ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं 'समयो खलु णिम्लो अप्पा' कहकर निर्मल आत्मा को 'समय' कहा है तथा जयसेनाचार्य ने 'प्राभृतं सारं सारः' कहकर प्राभृत का अर्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप किया है। समयसार का अर्थ भी शुद्धात्मा ही होता है। वस्तुतः आत्मा का शुद्धस्वरूप ही

१. जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अथ्थत्तच्चदो णादुं।

अथ्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

समयसार है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादक होने से इस ग्रंथ का 'समयसार' या 'समयपाहुड' नाम भी सार्थक है।

यह 'समयपाहुड' नाम सीधा द्वादशांग वाणी से सम्बद्ध है, क्योंकि गणधरदेव द्वारा रचित द्वादशांग वाणी के जो चौदह पूर्व रूप प्रभेद हैं, उनमें प्राभृत (पाहुड) नामक एक अवान्तर अधिकार है। उन्हीं पूर्वों का यत्किंचित् ज्ञान आचार्य कुन्दकुन्द को था जो समयपाहुड के रूप में निबद्ध हुआ है।

समयपाहुड में आत्मतत्त्व का जैसा प्रतिपादन है, वैसा जैन वाङ्मय में अन्यत्र दुर्लभ है। उसे कुन्दकुन्द ने स्वयं श्रुतकेवली-कथित कहा है।

१. जीवाजीवाधिकार : भेदविज्ञान का अधिकार -

समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार में भेदविज्ञान का जैसा सूक्ष्मतम विश्लेषण हुआ है, वैसा अन्यत्र विरल है। इसमें शुद्ध जीवपदार्थ का अजीवपदार्थों से भेदज्ञान कराते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि एक निज शुद्धात्मतत्त्व के सिवाय अन्य समस्त परपदार्थ अजीव तत्त्व हैं। जड़-अचेतन पदार्थ तो अजीव हैं ही, अन्य अनंत जीव राशि को भी निज ज्ञायकस्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव तत्त्व कहा गया है। तथा अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्षणिक क्रोधादि विकारीभावों तथा मति-श्रुतज्ञानादि अपूर्ण पर्यायों को भी अपने त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञायक स्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव तत्त्व कहा है।

ऐसा जीव नामक शुद्धात्मतत्त्व देह एवं रागादि औपाधिक भावों से भिन्न हैं - यह बात स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने कहा है कि चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है। इस चित्शक्ति से अन्य जो भी औपाधिक भाव हैं, वे सब पुद्गलजन्य हैं, अतः पुद्गल ही हैं।^१

उन पौद्गलिक और पुद्गलजन्य भावों का उल्लेख करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जीव के वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श नहीं है; शरीर, संस्थान, संहनन भी नहीं है; तथा राग, द्वेष, मोह, कर्म व नोकर्म भी नहीं है; वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक भी नहीं है, अध्यात्म के स्थान, अनुभाग के स्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान आदि कुछ भी नहीं है; क्योंकि ये सब तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।^१

गुणस्थानादि को यद्यपि व्यवहार से जीव कहा गया है, पर वे सब वस्तुतः ज्ञायकस्वभाव से भिन्न होने से जीव के भाव ही नहीं है और जीवस्वरूप भी नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र ने भी इसी बात पर अपनी मुहर (छाप) लगाते हुए कहा है कि वर्णादिक व रागादिक भाव आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को ये सब दिखाई नहीं देते। उसे तो मात्र एक चैतन्यभावस्वरूप सर्वोपरि आत्मतत्त्व ही दिखाई देता है।^२

जीव का वास्तविक लक्षण तो चेतनामात्र है। अस्ति से कहें तो वह ज्ञान-दर्शनमय है और नास्ति से कहें तो वह अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी है। यह जीव पुद्गल के आकार रूप नहीं होता, अतः उसे निराकार व अलिंगग्रहण कहा जाता है।^३

परन्तु आत्मा के ऐसे स्वभाव को न जानने वाले, पर का संयोग देखकर आत्मा से भिन्न परपदार्थों व परभावों को ही आत्मा मानते हैं। इस कारण कोई राग-द्वेष को, कोई कर्मफल को, कोई शरीर को और कोई अध्यवसानादि भावों को ही जीव मानते हैं। जबकि वस्तुतः ये सब जीव नहीं है, क्योंकि ये सब तो कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से होनेवाले या तो संयोगीभाव हैं या संयोग है, अतः अजीव है।^४

१. समयसार, गाथा ५० से ५५

२. समयसार, कलश ३६

३. समयसार, गाथा ३६ से ४३

४. समयसार, गाथा ३८

ज्ञानी इन सब आगन्तुक भावों से भेदज्ञान करके ऐसा मानता है कि “मैं एक हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, इसके सिवाय अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं है।” इसी दृष्टि से समयसार गाथा-२, ६, ७ भी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें क्रमशः स्व-समय-पर-समय एवं प्रमत्त-अप्रमत्त के संदर्भ में पर एवं पर्यायों से भेदज्ञान कराके शुद्धात्मस्वरूप का विशद स्पष्टीकरण किया गया है।

२. कर्त्ता-कर्म स्वरूप : अकर्त्तावाद का एक अद्भुत सिद्धान्त -

समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार में वस्तुस्वातन्त्र्य या छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणामन का निरूपण प्रकारान्तर से परद्रव्य के अकर्त्तृत्व का ही निरूपण है। यह अकर्त्तावाद का सिद्धान्त आगमसम्मत युक्तियों द्वारा एवं सिद्धान्तशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा तो स्थापित है ही, साथ ही अपने व्यावहारिक लौकिक जीवन को निराकुल सुखमय बनाने में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आगम के दबाव और युक्तियों की मार से सिद्धान्ततः अकर्त्तृत्व को स्वीकार कर लेने पर भी अपने दैनिक जीवन की छोटी-मोटी पारिवारिक घटनाओं के सन्दर्भ में उन सिद्धान्तों के प्रयोगों द्वारा आत्मिक शान्ति और निष्कषाय भाव रखने की बात जगत के गले आसानी से नहीं उतरती, उसके अन्तर्मन को सहज स्वीकृत नहीं होती; जबकि हमारे धार्मिक सिद्धान्तों की सच्ची प्रयोगशाला तो हमारे जीवन का कार्यक्षेत्र ही है।

क्या अकर्त्तावाद जैसे संजीवनी सिद्धान्त केवल शास्त्रों की शोभा बढ़ाने या बौद्धिक व्यायाम करने के लिए ही हैं? अपने व्यवहारिक जीवन में प्रामाणिकता, नैतिकता, निराकुलता एवं पवित्रता प्राप्त करने में इनकी कुछ भी भूमिका-उपयोगिता नहीं है? यह एक अहं प्रश्न है।

जरा सोचो तो, अकर्त्तृत्व के सिद्धान्त के आधार पर जब हमारी श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि ‘कोई भी जीव किसी अन्य जीव का भला या बुरा कुछ भी नहीं कर सकता’, तो फिर हमारे मन में अकारण ही किसी के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव क्यों होंगे?

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि - अकर्त्तृत्व की सच्ची श्रद्धा वाले ज्ञानियों के भी क्रोधादि भाव एवं इष्टानिष्ट की भावना प्रत्यक्ष देखी जाती है तथा उनके मन में दूसरों का भला-बुरा या बिगाड़-सुधार करने की भावना भी देखी जाती है - इसका क्या कारण है?

समाधान सरल है, यद्यपि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा सिद्धों जैसी पूर्ण निर्मल होती है, तथापि वह चारित्रमोह कर्मोदय के निमित्त से एवं स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण दूसरों पर कषाय करता हुआ भी देखा जा सकता है; पर सम्यग्दृष्टि उसे अपनी कमजोरी मानता है। उस समय भी उसकी श्रद्धा में तो यही भाव है कि - पर ने मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं किया है। अतः उसे उसमें अनन्त राग-द्वेष नहीं होता। उत्पन्न हुई कषाय को यथाशक्ति कृश करने का पुरुषार्थ भी अन्तरात्मा में निरन्तर चालू रहता है। अतः इस अकर्त्तावाद के सिद्धान्त को धर्म का मूल आधार या धर्म का प्राण भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः पर में अकर्त्तृत्व की यथार्थ श्रद्धा रखने वाले का तो जीवन ही बदल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कितना सुखी, शान्त, निरभिमानी, निर्लोभी और निराकुल हो जाता है, अज्ञानी तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

समयसार के अकर्त्तावाद का तात्पर्य यह है कि - जो प्राणी अपने को अनादि से परद्रव्य का कर्त्ता मानकर राग-द्वेष-मोह भाव से कर्मबन्धन में पड़कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह अपनी इस मूल भूल को सुधारे और अकर्त्तृत्व की श्रद्धा के बल से राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागता प्रगट करे; क्योंकि वीतराग हुए बिना पूर्णता, पवित्रता व सर्वज्ञता की प्राप्ति संभव नहीं है। एतदर्थ अकर्त्तावाद को समझना अति आवश्यक

है।

वस्तुतः कर्ता-कर्म सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता ही नहीं, एक ही द्रव्य में होता है। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य है -

“यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेतु तत्कर्म।

या परिणमति क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है, वास्तव में तीनों भिन्न नहीं है।

इस कलश से स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः कर्तृ-कर्म सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य है, उपादेय है।

यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो नियम से वह उनके साथ तन्मय हो जाये, पर तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है, वीतरागता प्राप्त करने के लिए अकेला अकर्ता होना ही जरूरी नहीं है; बल्कि अपने को पर का अकर्ता जानना, मानना और तद्रूप आचरण करना भी जरूरी है। एक-दूसरे के अकर्ता तो सब हैं ही, पर भूल से अपने को पर का कर्ता मान रखा है, इस कारण अज्ञानी की अनन्त आकुलता और क्रोधादि कषायें कम नहीं होतीं। अन्यथा इस अकर्तृत्व सिद्धान्त की श्रद्धा वाले व्यक्ति के विकल्पों का तो स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थितिजन्य अपनी आकुलता कम करने के लिए वस्तु के स्वतंत्र परिणामन पर एवं उस परिणामन में अपनी अकिंचित्करता के स्वरूप के आधार पर ऐसे विचार आते हैं कि जिनसे उसकी आकुलता सहज ही कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, वह

सोचता है कि -

- (अ) यदि मैं अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार परिणामा सकता तो जब भी अपशकुन की प्रतीक मेरी बाईं आँख फड़कती है, उसे तुरन्त बन्द करके शुभ शकुन की प्रतीक दायी आँख क्यों नहीं फड़का लेता?
- (ब) यदि मैं अपने प्रयत्नों से शरीर को स्वस्थ रख सकता हूँ तो प्रयत्नों के बावजूद भी यह अस्वस्थ क्यों हो जाता है? जब किसी को कैंसर, कोढ़ एवं दमा-श्वास जैसे प्राणघातक भयंकर दुःखद रोग हो जाते हैं तो वह उन्हें अपने प्रयत्नों से ठीक क्यों नहीं कर लेता?
- (स) यदि मैं किसी का भला कर सकता होता तो सबसे पहले अपने कुटुम्ब का भला क्यों न कर लेता? फिर मेरे ही परिजन-पुरजन दुःखी क्यों रहते? मैंने अपनी शक्ति अनुसार उनका भला चाहने एवं भला करने में कसर भी कहाँ छोड़ी, पर मेरी इच्छानुसार मैं किसी का कुछ भी तो नहीं कर सका।
- (द) इसीप्रकार, यदि कोई किसी का बुरा या अनिष्ट कर सकता होता तो आज संभवतः यह दुनिया ही इस रूप में न होती, सभी कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता; क्योंकि दुनिया तो राग-द्वेष का ही दूसरा नाम है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका कोई शत्रु न हो; पर आज जगत यथावत् चल रहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी के भले-बुरे, जीवन-मरण व सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता नहीं है। जो होना होता है वही होता है, किसी के करने से नहीं होता।

लोक में सभी कार्य स्वतः अपने-अपने षट्कारकों से ही सम्पन्न होते हैं। उनका कर्ता-धर्ता मैं नहीं हूँ। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व के भार से निर्भर होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेता है। यही

आत्मानुभूति का सहज उपाय है।

प्रत्येक द्रव्य व उनकी विभिन्न पर्यायों के परिणामन में उनके अपने-अपने कर्ता, कर्म, करण आदि स्वतंत्र षट्कारक हैं, जो उनके कार्य के नियामक कारण हैं। ऐसी श्रद्धा का बल बढ़ने से ही ज्ञानी ज्यों-ज्यों इन बहिरंग (पर) षट्कारकों की प्रक्रिया से पार होता है, त्यों-त्यों उसकी आत्मशुद्धि में वृद्धि हो जाती है।^१

जब कार्य होना होता है, तब कार्य के नियामक अंतरंग षट्कारक, पुरुषार्थ, काललब्धि एवं निमित्तादि पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही हैं और नहीं होना होता है तो अनंत प्रयत्नों के बावजूद भी कार्य नहीं होता तथा तदनुरूप कारण भी नहीं मिलते।

मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से अकर्तावाद सिद्धान्त की ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जिससे उसके असीम कष्ट सीमित रह जाते हैं। जो विकार शेष बचता है, उसकी उम्र भी लम्बी नहीं होती।

बस, इसलिए तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद ही यह कर्ताकर्म अधिकार लिखने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया है। इसमें बताया गया है - जगत का प्रत्येक पदार्थ पूर्णतः स्वतंत्र है, उसमें होनेवाले नित्य नये परिवर्तन या परिणामन का कर्ता वह पदार्थ स्वयं है। कोई भी अन्य पदार्थ या द्रव्य किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है।

समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार का मूल प्रतिपाद्य ही यह है कि परपदार्थ के कर्तृत्व की तो बात ही क्या कहें, अपने क्रोधादि भावों का कर्तृत्व भी ज्ञानियों के नहीं है। जबतक यह जीव ऐसा मानता है कि क्रोधादि का कर्ता व क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं, तब तक वह अज्ञानी है। तथा जब स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा क्रोधादि आस्रवों से शुद्धात्म-स्वरूप को

१. समयसार, गाथा ७३ की आत्मख्याति टीका

भिन्न जान लेता है, तब ज्ञानी होता है।

यद्यपि जीव व अजीव दोनों द्रव्य हैं, तथापि जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मवर्गणाएँ स्वतः अपनी तत्समय की योग्यता से रागादि परिणामरूप परिणमित होती है। इस प्रकार जीव के व कर्म के कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि न तो जीव पुद्गलकर्म के किसी गुण का उत्पादक है और न पुद्गल जीव के किसी गुण का उत्पादक है। केवल एक-दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणामन अपनी-अपनी योग्यतानुसार होता है। इस कारण जीव सदा अपने भावों का ही कर्ता होता है, अन्य का नहीं।

यद्यपि आत्मा वस्तुतः केवल स्वयं का ही कर्ता-भोक्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं, तथापि द्रव्यकर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा को सांसारिक सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहने का कारण पर का या द्रव्यकर्म का कर्तृत्व नहीं है, बल्कि आत्मा में जो अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता या अज्ञानता से राग-द्वेष-मोह कषायादि भावकर्म हो रहे हैं, उनके कारण यह सांसारिक सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता होता है। वस्तुतः आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः वह किसी का कार्य नहीं है तथा वह किसी को उत्पन्न नहीं करता, इस अपेक्षा वह किसी का कारण भी नहीं है। अतः दो द्रव्यों में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा जब तक जीव कर्मप्रकृतियों के निमित्त से होने वाले विभिन्न पर्यायरूप उत्पाद-व्यय का परित्याग नहीं करता, उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मान्यता को नहीं छोड़ता, तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि एवं असंयमी रहता है। तथा जब वह अनंत कर्म व कर्मफल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अहंकारादि एवं असंयमादि दोषों से निवृत्त होकर स्वरूपसन्मुख हो जाता

है, तब वह तत्त्व ज्ञानी सम्यक्दृष्टि एवं संयमी होता है।

३. पुण्य-पाप : स्वर्ण-लोहमय बेडियाँ -

आचार्य कुन्दकुन्द शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को कुशील कहते हैं। अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील मानने वाले अज्ञानीजनों से वे पूछते हैं कि जो कर्म हमें संसाररूप बन्दीगृह में बन्दी बनाता है वह सुशील कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

जैसे पुरुष को सोने की बेड़ी भी बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, उसी प्रकार शुभ अशुभ कर्म भी जीवों को समान रूप से सांसारिक बन्धन में बाँधते हैं।^१

दुर्जन पुरुष के संसर्ग की भाँति इन दोनों कुशीलों के साथ राग व संसर्ग करना उचित नहीं है क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग एवं राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।^२

जिनेन्द्र भगवान का यह उपदेश है कि रागी जीव कर्म से बँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मबन्ध से छूटता है, अतः शुभाशुभ कर्मों में प्रीति करना ठीक नहीं है।^३

वस्तुतः यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि शुद्धोपयोग पर ही केन्द्रित है, वे शुभाशुभ दोनों ही भावों को एक जैसा संसार का कारण होने से हेय मानते हैं।

कविवर बनारसीदास ने तो इस अधिकार का नाम ही पुण्यपाप-एकत्वद्वार रखा है। उसके अनुसार - पापबन्ध व पुण्यबन्ध - दोनों ही मुक्तिमार्ग में बाधक हैं, दोनों के कटु व मधुर स्वाद पुद्गल हैं, संक्लेश व विशुद्धभाव दोनों विभाव हैं, कुगति व सुगति दोनों संसारमय हैं। इस प्रकार दोनों के कारण रस, स्वभाव और फल-सभी समान हैं। फिर भी न

१. समयसार, गाथा १४५

२. समयसार, गाथा १४६

३. समयसार, गाथा १४७

४. समयसार, गाथा १५०

जाने क्यों, अज्ञानी को इनमें अन्तर दिखाई देता है? दोनों आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं, अतः अंधकूप व कर्मबंधरूप हैं, अतः दोनों का ही मोक्षमार्ग में निषेध है।^१

समयसार के हिन्दी-टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा कहते हैं -

“पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्ध रूप दुर मानि ।

शुद्ध आतमा जिन लहो, नमूँ चरण हित जानि ॥”

पुण्य व पाप दोनों ही कर्म बन्धरूप हैं, अतः दोनों एक समान दुःखद हैं।”

कविवर बनारसीदासजी ने गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में पुण्य-पाप की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जबतक शुभ-अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं तबतक ज्ञान-दर्शन उपयोग और वचन-काय योग चंचल रहते हैं तथा जबतक ये स्थिर न हों तबतक शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। इसलिए दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग का छेद करने वाली हैं, दोनों ही बंध कराने वाली है, दोनों में से कोई भी अच्छी नहीं है। इसप्रकार दोनों ही मोक्षमार्ग में बाधक हैं - ऐसा विचार करके शुभ-अशुभ क्रिया का निषेध किया गया है।^३

इसप्रकार मोक्षमार्ग में पुण्य-पाप का क्या स्थान है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई, फिर भी पापकार्यों से बचने के लिए पुण्य कार्यों की भी अपनी उपयोगिता है - इस बात को दृष्टि से ओझल न करते हुए यथायोग्य विवेचना करते हुए पुण्य के प्रलोभन से बचे और पुण्य कार्यों (शुभभावों) को ही धर्म न समझ लिया जाय - इस बात से भी सावधान रहे।

४. आस्रव तत्त्व : संसार कारण तत्त्व -

समयसार के आस्रव के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार के

१. समयसार नाटक, पुण्य-पाप-एकत्वद्वार, छन्द-६

२. समयसार के पुण्यपापाधिकार की भाषावचनिका का मंगलाचरण, पृष्ठ २४१

३. समयसार नाटक, पुण्य-पाप-एकत्वद्वार, छन्द १२

कारणों की मीमांसा करते हुए मुख्य रूप से यह बताया है कि ज्ञानी अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिरूप भावास्रवों का अभाव होने से कर्मों का आस्रव और बंध नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दर्शन मात्र मोक्ष का ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि के अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ विद्यमान अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों को उदयजनित जो रागादि भाव होते हैं, उनसे कर्मों का आस्रव व बन्ध होता है, परन्तु उनकी यहाँ गिनती नहीं की गई है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके उत्पन्न होने की भूमिका में बध्यमान कर्मों की स्थिति घटकर अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण हो जाती है। चौथे गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का आस्रव तो रुक ही जाता है तथा जो शेष आस्रव-बंध होता है, उसका कारण सम्यग्दर्शन नहीं, बल्कि सम्यग्दर्शन के साथ रहने वाला रागभाव है।

आस्रवभाव के अभाव में द्रव्यप्रत्ययों को बन्ध नहीं कहा है, क्योंकि बंध का मूल कारण तो भावास्रव है।

यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया है कि जब ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का कारण कहा तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे?

समाधान यह है कि यहाँ ज्ञानगुण के जघन्यभाव का अर्थ है मिथ्यात्वसहित अज्ञानभाव अर्थात् मिथ्यात्वादि के उदय में जब ज्ञान-दर्शन-गुण रागादिमय हो जाते हैं, तब अज्ञानभाव से परिणत वह ज्ञान-दर्शन ही बंध का कारण है। ज्ञानी के उस अज्ञानमय जघन्य भाव का अभाव हो गया है, अतः ज्ञानी के आस्रव नहीं है।

५. संवर तत्त्व : भेदविज्ञान की भावना का सुफल -

भेदज्ञान की भावना से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि-आत्मानुभूति होती है और आत्मानुभूति से राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव एवं नवीन द्रव्यकर्मों का निरोध होता है। तथा भावास्रव-द्रव्यास्रव का रुक जाना ही

संवर है।

निश्चय से उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध-क्रोध में ही हैं, उपयोग क्रोध नहीं है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में भी कर्म-नोकर्म नहीं है, क्योंकि उपयोग चैतन्य का परिणाम होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म है। वे सभी पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं। अतः उपयोग व क्रोधादि में प्रदेश भिन्न होने से अत्यन्त भेद है। इसप्रकार इनके पारमार्थिक आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान उपयोग में स्थित होने से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग रूप आस्रव का अभाव होता है। आस्रव का अभाव होने से कर्मों का निरोध, कर्मों के निरोध से नोकर्मों का निरोध और नोकर्मों के निरोध में संसार का निरोध हो जाता है।^१

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ है कि आत्मोपलब्धि में मूल कारण भेदज्ञान ही है। भेदज्ञान भाने की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने भी यही कहा है कि भेदज्ञान सदैव भाने योग्य है तथा यह भेदज्ञान अखण्ड रूप से तब तक भाना चाहिए जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जावे।^२

६. निर्जरा तत्त्व : ज्ञान-वैराग्य की प्रकट सामर्थ्य -

इस अधिकार में पहले तो द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा किन जीवों को किसप्रकार होती है - इसका सामान्य वर्णन किया है, पश्चात् ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य का विस्तृत विवेचन किया है, जिसमें विषय औषधि के रूप में सेवन करने वाले विवेकी वैद्य का और परिस्थितिवश अरुचिपूर्वक मद्यपान करने वाले पुरुष का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है - जिसप्रकार विषपान करता हुआ वैद्य मरता नहीं है तथा मद्यपान करते अनासक्त पुरुष को नशा नहीं चढ़ता, ठीक उसीप्रकार जो भेदविज्ञानी अनासक्त भाव से

१. समयसार गाथा १८१ से १८३ एवं टीका

२. समयसार कलश, १२६ और १३०

कर्म करता है, बन्धन को प्राप्त नहीं होता।

आत्माभिमुख रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

“एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।

एदेण होहि तित्तो सो होहिदि उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

हे आत्मन! यदि तू सुख चाहता है तो उस आत्मानुभव में तल्लीन होकर रह, उसी में सदा संतुष्ट रह और उसी में तृप्त हो, और सब इच्छाओं का त्याग कर दे। ऐसा करने से तुझे संवरपूर्वक निर्जरा होगी, जिससे तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।”

आत्मज्ञान की महिमा करते हुए कहा है कि आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता हुआ ज्ञानी क्या ऐसा कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा परिग्रह है? कभी नहीं कहेगा। यदि परद्रव्य को कोई अपना मानेगा तो उस अज्ञानी को अजीव होने की आपत्ति आवेगी, जो संभव नहीं है।

अज्ञानी कर्मों से क्यों बंधता है - इस सम्बन्ध में कहा है कि अज्ञानी कर्मफल की भावना करता है, अतः उसे संसार-परिभ्रमण रूप कर्मफल की प्राप्ति होती है और ज्ञानी जीव कर्म फल की कामना नहीं करता, अतः उसे कर्मफल की प्राप्ति में होनेवाला संसार-परिभ्रमण नहीं होता। इस प्रकार निर्जरा अधिकार में निर्जरा तत्त्व का आध्यात्मिक दृष्टि से विशद विवेचन हुआ है।

७. बन्धाधिकार : निर्बन्धद्वार -

इस बन्धाधिकार में निर्बन्ध, निष्कषाय और निर्भय होने का मूल मन्त्र या अमोघ उपाय बताया गया है। कर्मबन्ध का मूल कारण अपना अज्ञानजन्य राग-द्वेष-मोह रूप अध्यवसान है। यदि आत्मा में अध्यवसान भाव है तो जीवों को मारो या न मारो, बन्ध निश्चित होगा ही। और यदि राग-द्वेषादि अध्यवसान नहीं है तो भले जीव मर जावे तो भी बन्ध नहीं होगा। यद्यपि रागादि अध्यवसान भाव किसी न किसी व्यक्ति या वस्तु के

अवलम्बन से होते हैं, परन्तु बन्ध उस व्यक्ति या वस्तु के कारण नहीं, बल्कि अपने अध्यवसान से होता है। अतः परवस्तु या व्यक्ति पर राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

जिस प्रकार तेल लगाकर धूल भरे अखाड़े में व्यायाम करने से पुरुष को जो मैल लगता है, उसका कारण तेल है, व्यायाम व अखाड़ा नहीं; उसीप्रकार बन्ध का कारण मात्र रागादि अध्यवसान है, कर्मरज, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति तथा चेतन-अचेतन की हिंसा व पंचेन्द्रिय के भोगादि बन्ध के कारण नहीं हैं।

इस अधिकार में पर को सुखी-दुःखी करने, मारने-जिलाने या पर के द्वारा सुखी-दुःखी होने, मारने-जीवित रखने की मिथ्या मान्यता सम्बन्धी जो २४७ से लेकर २६६ तक २० गाथाएँ हैं वे अत्यन्त मार्मिक हैं। वे पाठकों की मिथ्या मान्यता पर सीधी चोट करती हैं। उनमें कहा गया है कि - यदि कोई ऐसा मानता है कि मैं अन्य को मार सकता हूँ या अन्य जन मुझे मार सकते हैं, तो उसकी यह मान्यता अज्ञानमय है, क्योंकि जब मरण आयु के क्षय से ही होता है तो तुम किसी को कैसे मार सकते हो? और अन्य जन भी तुम्हें कैसे मार सकते हैं? न तो तुम किसी की आयु छीन सकते हो और न कोई तुम्हारी आयु छीन सकता है।

इसीप्रकार मैं अन्य को बचाता हूँ या अन्य जन मुझे बचाते हैं - यह मान्यता भी मिथ्या है, क्योंकि सभी जीव अपने-अपने आयुकर्म से जीवित रहते हैं। न तो हम किसी को आयु दे सकते हैं, न हमें कोई अपनी आयु दे सकता है। तो फिर हमने किसी को बचाया या हमें किसी ने बचाया - यह मान्यता भी मिथ्या है।

यही सिद्धान्त पर को सुखी-दुःखी करने के सम्बन्ध में एवं पर से स्वयं के सुखी-दुःखी होने के सम्बन्ध में लागू होता है। अज्ञानी जीव इसी मिथ्या मान्यता से दुःखी हैं।

एतदर्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा २६७ से २६९ तक। तीन गाथाओं

में मार्मिक उद्बोधन करते हुए कहा है कि - हे भव्यजन! तुम जरा गहराई से सोचो कि जब तुम्हारा पर में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं हो सकता, तुम्हारी कुछ भी नहीं चलती तो फिर तुम क्यों व्यर्थ ही उनमें राग-द्वेष करके कर्मबन्ध करते हो?

यदि कोई ऐसा कहे कि - “ये तो निश्चयनय की बातें हैं और हम तो व्यवहारीजन हैं। अतः हमें तो व्यवहार से ऐसा ही मानना पड़ेगा कि - हम दूसरों का भला-बुरा कर सकते हैं।” तो उसका समाधान करते हुए आचार्य २७२वीं गाथा में कहते हैं कि - “निश्चय-नयाश्रित ज्ञानी जन ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। इसी संदर्भ में समयसार गाथा २७३ से २७५ मूलतः द्रष्टव्य हैं।

८. मोक्ष अधिकार : सम्यक्पुरुषार्थ अधिकार -

इस अधिकार में मोक्षप्राप्ति के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित चार बिन्दुओं पर विचार किया गया है -

(१) सम्यक्पुरुषार्थ (२) भेदविज्ञान सहित विराग (३) परद्रव्य का ग्रहण करना अपराध (४) निश्चय से प्रतिक्रमण भी विषकुम्भ। इन चारों बिन्दुओं का मोक्ष एवं मोक्षमार्ग से सीधा सम्बन्ध है।

सर्वप्रथम सम्यक्पुरुषार्थ पर जोर देते हुए कहा है कि - “जीव अनादि काल से जिन कर्मों से बँधा है उनसे छूटने के लिए उन्हें मात्र जान लेने और उनके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि तथा उदय, उदीरणा, बन्ध एवं सत्त्व आदि भेद-प्रभेदों की सूक्ष्म चर्चा कर लेने से भी मुक्ति नहीं मिलती। तात्पर्य यह है कि गम्भीर चर्चा-वार्ता एवं उसके स्वरूप का बारम्बार चिन्तन-मनन मुक्ति के सीधे साधन नहीं है। मुक्ति के लिए कर्मबन्ध के कारण मोह-राग-द्वेष का नाश करना आवश्यक है, जो कि भेद-विज्ञान से होता है।

जिसप्रकार प्रज्ञाछैनी द्वारा कर्मों से आत्मा का भेदज्ञान किया जाता है, उसीप्रकार प्रज्ञाछैनी से ही कर्मों के त्यागपूर्वक निजात्मा का ग्रहण

होता है। जब ज्ञानी जीव प्रज्ञा से जीव व कर्म के स्वभाव को भिन्न-भिन्न जानकर यह निश्चय करता है कि दुःख के कारणभूत बन्ध छेदने योग्य है और सुखस्वरूप शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है, तब वह रागादि कर्मों से विरक्त हो जाता है और तभी उसका कर्मबन्धन से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त होता है। उस समय उसको प्रज्ञा द्वारा ऐसा विचार आता है कि जो चिदात्मा है, निश्चय से मैं वह हूँ, जो ज्ञाता-द्रष्टा है वह मैं हूँ, अर्थात् मैं चिदात्मा हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, इसके अतिरिक्त सब भाव मुझसे पर हैं, वे मेरे नहीं हैं, अतः त्याज्य हैं।

आचार्य कहते हैं कि “जिस प्रज्ञा के द्वारा भेदज्ञान किया जाता है, उसी प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए।”

ज्ञायक स्वभाव से भ्रष्ट होना ही अपराध है ‘अपगत राधः इति अपराधः’। ‘राध’ शुद्धात्मा की आराधना को कहते हैं, अतः जो आत्मा राध रहित है - शुद्धात्मा की आराधना से रहित है, ज्ञायकस्वभाव से भ्रष्ट है, वह अपराध है।^१ जब प्रज्ञा से शुद्धात्मा ग्रहण होता है, तब आत्मा निरपराधी होता है।

व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है, परन्तु वस्तुतः प्रतिक्रमणादि पुद्गलाधीन हैं, वे बन्ध के कारण हैं। शुद्धात्मतत्त्व तो प्रतिक्रमण से रहित है। इस दृष्टि से द्रव्य व भाव - दोनों ही प्रतिक्रमण विषकुम्भ हैं।

जो मुनिराज प्रतिक्रमणादि के विकल्प से भी रहित हो गये हैं, वे आत्मानुभवी शुद्ध ज्ञान-दर्शन सहित हैं। ऐसे पुरुष थोड़े ही समय में कर्म रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।^२

इसप्रकार इस अधिकार में मोक्षतत्त्व के सम्यक् साधनों पर विचार

१. समयसार गाथा ३०४ की ‘आत्मख्याति’ टीका

२. समयसार नाटक, मोक्ष द्वार, छन्द ४३

किया गया है।

९. सर्वविशुद्ध अधिकार -

जीवजीवाधिकार में शुद्धात्मा को श्रद्धा का विषय बनाने के लिए भेदज्ञान की मुख्यता से रागादि भावों को पुद्गलकर्मनिमित्तक होने से पुद्गलद्रव्य का कहा है और यहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार में उपादान की मुख्यता एवं कर्ता-कर्म की दृष्टि से राग आत्मा की ही अवस्था होने से आत्मा का कहा गया है। दोनों अपेक्षाएँ जुदी-जुदी हैं, अतः कोई विरोध नहीं है।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को कर्ता-कर्म का उपसंहार भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस अधिकार में प्रकारान्तर से कर्ता-कर्म की ही मुख्य चर्चा की है। जो बातें कर्ता-कर्म अधिकार में अनुक्त रह गईं, कारणवश कही नहीं जा सकीं, उन्हें भी यहाँ कह दिया गया है। उदाहरणार्थ - आठ कर्म या एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियाँ आत्मा के रागादि विकारी भावों की कर्ता नहीं है - यह बात बहुत विस्तार से यहाँ कही गई है तथा सांख्य, बौद्धादि की एकान्त मान्यताओं का भी यहाँ निराकरण किया गया है।

दूसरी बात, यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप साक्षात् मोक्षमार्ग को भी विशद रीति से प्रकट करके प्राणियों को मोक्षमार्ग में स्थापित करने की प्रेरणा दी गई है, जो कुन्दकुन्द के शब्दों में ही द्रष्टव्य है -

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदब्बेसु ॥४१२॥

हे भव्य! तू निज आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर!

१०. समयसार में दृष्टान्तों का प्रयोग -

समयसार में सामान्यजनों को समझाने के लिए लौकिक जीवन के

ऐसे-ऐसे अनुभूत उदाहरणों का प्रयोग किया गया है जो वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने में बहुत सहायक है। जिसप्रकार अनार्यजनों को अनार्य भाषा में समझाये बिना समझ में नहीं आता, उसी प्रकार व्यवहारी जनों को व्यवहार की भाषा और सरल दृष्टान्तों के बिना वस्तुस्वरूप समझ में नहीं आता। इसी कारण समयसार में सूक्ष्म सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यदेव ने दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

१७वीं १८वीं गाथा में राजा के दृष्टान्त से जीवराज को समझाते हुए कहा है जैसे धनार्थी पहले राजा को पहचानकर अपने मन में ऐसा विश्वास जागृत करता है कि - यह वस्तुतः राजा है, यदि मैं इसकी सेवा करूँगा तो मुझे अवश्य ही इससे धन की प्राप्ति होगी, फिर वह उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को पहले जीवरूपी राजा को जानना चाहिए, श्रद्धान करना चाहिए और अनुचरण करना चाहिए तथा उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

३४वीं गाथा में प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाने के लिए परवस्तु का दृष्टान्त दिया है। लोक में हुई कोई पर को पर जानकर तुरन्त उसका त्याग कर देता है; उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों को पर जानकर उन्हें त्याग देता है, उससे ममत्व छोड़ देता है।

गाथा ४७ व ४८ में व्यवहारनय के समझाने के लिए सेना सहित राजा के निकलने पर राजा निकला है - ऐसा जो कहा जाता है सो वह भी व्यवहार दर्शाया है। ५० से ६० गाथा में इसी को विस्तार से समझाने के लिए 'व्यक्ति को लुटता देख मार्ग लुटता है' - ऐसा दृष्टान्त देकर समझाया है। इसी प्रकार कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा १३०-१३१, पुण्य-पापाधिकार की गाथा १६५-१६६ एवं २२० से २२३, बंधाधिकार की गाथा २४० व २४१ मोक्ष अधिकार की गाथा २८८ से २६० भी द्रष्टव्य हैं। इन सबमें विभिन्न दृष्टान्तों से वस्तुस्वरूप को बहुत ही सरल ढंग से स्पष्ट किया है, जो मूलः पठनीय हैं। इति शुभं। ओं नमः

१८

क्षत्रचूड़ामणि नीतियों और वैराग्य भावों से भरपूर कृति

वादीभसिंहसूरि कृत क्षत्रचूड़ामणि कृति सरल संस्कृत भाषा एवं काव्य शैली में लिखी गई एक ऐसी नीति परक साहित्यिक रचना है, जिसके प्रत्येक श्लोक में कथानक के साथ-साथ पाठकों को कुछ न कुछ राजनैतिक, धार्मिक और सदाचार प्रेरक सन्देश भी दिया गया है। इस कृति के कथानायक तद्भव मोक्षगामी महाराजा जीवन्धरकुमार हैं, इसकारण इसका अपरनाम जीवन्धरचरित भी है। इसमें पाठकों को दिए गए सन्देश सामायिक, सटीक और सोदाहरण होने से अत्यन्त प्रभावी हो गए हैं।

पुराण पुरुष कथानक के मूलनायक जीवन्धरकुमार के पिता महाराजा सत्यन्धर यद्यपि यथा नाम तथा गुणसम्पन्न, सदा सत्य बोलनेवाले, वृद्धों की सेवा करनेवाले, गूढ़ रहस्यों को समझने में निपुण, पुरुषार्थी, हठरहित, दूरदर्शी और विवेकी राजा थे; तथापि होनहार के अनुसार वे अपनी रानी विजया पर इतने अधिक मोहित और विषयासक्त हो गए थे कि उन्होंने अपने राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मन्त्री काष्ठांगार के भरोसे छोड़ दी, जो एक विवेकी राजा के लिए उचित नहीं था। इस दोष के कारण वे स्वयं तो राजसत्ता और प्राणों से हाथ धो ही बैठे, अपनी प्रिय रानी विजया और गर्भस्थ शिशु जीवन्धरकुमार को भी संकट में डालने का कारण बन गए।

राजा सत्यन्धर के इस दोष की ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकार ने पाठकों को यह सन्देश दिया है कि - विषयों में अधिक आसक्ति अनर्थ का कारण बनती है। पूज्य श्री कहते हैं -

विषयासक्तचित्तानां गुणः कोवा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

अर्थात् विषय-भोगों में लीन चित्तवाले मनुष्यों में ऐसा कौन-सा गुण है जो नष्ट नहीं हो जाता, सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। उनमें विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता, दूरदर्शिता, विवेक और सत्यवादिता आदि एक भी गुण नहीं रहता। कामुक मानव दीनता, निन्दा, तिरस्कार आदि की भी परवाह नहीं करता। उसे अपने भोजन-पान का विवेक और बड़प्पन की भी चिन्ता नहीं होती और तो ठीक - वह अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता।^१

ग्रन्थकार ने स्थान-स्थान पर ऐसे अगणित मार्मिक हृदयस्पर्शी सन्देश देकर पाठकों को ऐसा अनुकरणीय एवं आचरणीय सन्मार्ग-दर्शन किया है, जो स्तुत्य है।

और भी देखें, जब राजा सत्यन्धर विजयारानी पर अत्यधिक मोहित होने के कारण योग्य ईमानदार धर्मदत्त जैसे हितैषी मन्त्रियों के परामर्श की परवाह न करके काष्ठांगार को राजसत्ता सौंप ही देते हैं तो अवसर पाकर ग्रन्थकार ने सम्यक् राजनीति का सन्देश देते हुए, उन्हीं योग्य मन्त्रियों के माध्यम से राजा के कर्तव्यों का भी बोध करा दिया है।^२

इसी सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण सन्देश यह भी दिया है कि यदि भूल हो जाए तो आर्तध्यान का कारणभूत दुःख-शोक न करके इस सिद्धान्त का चिन्तन और विचार करना चाहिए कि **बुद्धिः कर्मानुसारिणि** अर्थात् जैसी होनहार होती है, तदनुसार ही बुद्धि हो जाती है। अन्यत्र भी यह कहा है -

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायोऽपि तादृशः।

सहायाः तादृशः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

विजयारानी के द्वारा देखे गए स्वप्न और राजा सत्यन्धर के द्वारा बताए गए उन स्वप्नों के फलों के रूप में की गई भविष्यवाणी द्वारा भी

१. प्रथमलम्ब : श्लोक १०, ११, १२

२. प्रथमलम्ब : श्लोक १५, १६

ग्रन्थकार ने एक आध्यात्मिक सन्देश दिया है। साहित्य में स्वप्नों के माध्यम से सन्देश देने की परम्परा नवीन नहीं है। पुराणों में तीर्थंकरों की माताओं द्वारा देखे गए सोलह स्वप्न और भावी तीर्थंकर बालक के पिता द्वारा उनके फलों की चर्चा तो प्रसिद्ध है ही, सम्राट चन्द्रगुप्त के स्वप्न भी इतिहासप्रसिद्ध हैं।

विजयारानी द्वारा देखा गया प्रथम स्वप्न, जिसमें **दिखकर तत्काल नष्ट हुए अशोकवृक्ष** को देखा था, उसकी चर्चा न करके महाराज सत्यन्धर ने शेष दो स्वप्नों के फल बताए; क्योंकि पहला स्वप्न उनके मरण का द्योतक था।

विजयारानी के द्वारा देखे गए स्वप्न और महाराजा सत्यन्धर द्वारा उनके फलों की, की गई भविष्यवाणी जैनदर्शन की त्रैकालिक सुनिश्चित वस्तुव्यवस्था एवं वस्तुस्वातन्त्र्य और सर्वज्ञ-अनुसार जानी हुई क्रमबद्धपर्याय के महान सिद्धान्त की ओर संकेत करती है।

स्पष्ट है कि पहले स्वप्न के फल के अनुसार राजा सत्यन्धर की विषया-सक्ति और उसके फलस्वरूप महाराज की मृत्यु की घटना अकारण नहीं थी, बल्कि उनकी होनहार में वह घटना भी सम्मिलित थी, पूर्व निर्धारित थी। अतः **होनी को कौन टाल सकता है** - ऐसे विचार से पाठकों के हृदय में विषयासक्ति के कारण जो महाराज सत्यन्धर के प्रति घृणा और अभक्ति की भावना हो रही थी, वह कम होने लगती है तथा सहानुभूति का भाव जागृत होता है। साथ ही यह विचार भी दृढ़ होता है कि **भूल का फल तो सबको भोगना ही पड़ता है**। अतः पाठकों को भूलों से बचने की शिक्षा भी मिलती है।

जब काष्ठांगार के मन में राजा सत्यन्धर का वध करके स्वतन्त्र राजा बनने का खोटा भाव पैदा हो गया तो राजा सत्यन्धर ने अपनी भूल का अहसास करके रानी विजया और गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा का उपाय करके पहले तो युद्ध किया; किन्तु युद्ध में हो रहे नरसंहार के कारण उन्होंने

युद्ध से विरक्त होकर युद्ध से संन्यास ले लिया और संयम तथा समाधिपूर्वक देहत्याग करके देवपर्याय प्राप्त की।

इस घटना से ग्रन्थकार ने यह सन्देश दिया है कि **सुबह का भूला यदि शाम तक भी सही राह पर आ जाए तो वह भूला नहीं कहलाता**। जीवन में कैसे भी भले-बुरे प्रसंग बने हों, परन्तु **अन्त भला सो सब भला** होता है। इसी नीति के अनुसार जिसप्रकार राजा सत्यन्धर ने अन्त में संसार से विरक्त होकर संयम और समाधि में ही अपने जीवन की सार्थकता और सफलता स्वीकार करके युद्ध से विराम लेकर आत्मसाधना पूर्वक देह त्यागी, उसीप्रकार हमें भी अपने शेष जीवन को सार्थक कर लेना चाहिए।

ग्रन्थकार ने खलनायक, कपटी काष्ठांगार द्वारा राजसत्ता हथियाने के पक्ष में अनेक कुयुक्तियाँ प्रस्तुत करके उसके चरित्र पर प्रकाश डाला है। जैसे कि काष्ठांगार मन ही मन सोचता है 'सैल्फ टॉक' करता है कि - सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया ? अरे ! वनराजा को जंगल के राज्य की सत्ता कौन सौंपता है ? कौन करता है उसका राजतिलक ? जैसे वह स्वयं ही अपने बल से, पराक्रम से वन का राजा वनराज बनता है, वैसे ही मैं भी अपने बल से ही राजा बनूँगा; पराधीन रहने की अपेक्षा तो मर जाना ही अच्छा है।''

ग्रन्थकार ने उपर्युक्त भाव को व्यक्त करते हुए कहा है -

जीवतात् तु पराधीनात् जीवानां मरणं वरम् ।

मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥१

यद्यपि धर्मदत्त मन्त्री ने काष्ठांगार को बहुत समझाया, पर जैसे पित्त-ज्वर वाले को दूध कड़वा ही लगता है, वैसे ही धर्मदत्त का सत्परामर्श भी सत्ता लोलुपी काष्ठांगार को नहीं सुहाया।

इधर राजा सत्यन्धर का विवेक जागृत तो हो गया था; किन्तु जैसे तरकस से छोड़ा गया तीर वापिस नहीं आता, वैसे ही घटित हुई दुर्घटना का परिणाम भी भोगना ही पड़ता है। यह विचार कर राजा सत्यन्धर ने रानी को मयूराकृति विमान में बिठाकर आकाशमार्ग से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के पूर्व कुछ महत्वपूर्ण सन्देश दिया था, जो इसप्रकार है -

“हे रानी, तुम शोक मत करो ! जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसको उदय में आए पापकर्म के फल में प्राप्त दुःख को तो भोगना ही पड़ता है। अब अपना ही पुण्य क्षीण हो गया है और पाप का उदय आ गया है; अतः हम पर दुःख और आपत्तियों का आना तो अनिवार्य ही है।

जिसप्रकार क्षणभंगुर जल का बुदबुदा देर तक नहीं टिक सकता, उसी-प्रकार यौवन, शरीर, धन-दौलत, राजशासन आदि अनुकूल संयोग भी क्षणभंगुर ही हैं। इसकारण इन अनुकूल संयोगों का वियोग होना अप्रत्याशित नहीं है, अतः तुम शोक मत करो। यद्यपि यह सब मेरे मोहासक्त होने का ही दुष्परिणाम है; पर मैं भी क्या करूँ ? जो होना था, वही तो हुआ है। तुम्हारे स्वप्नों ने पहले ही हमें इन सब घटनाओं से अवगत करा दिया था। स्वप्नों के फल यही तो दर्शाते हैं कि अब अपना पुण्य क्षीण हो गया है; अतः वस्तुस्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।” इसप्रकार राजा ने रानी को समझाया।

प्रथम लम्ब के शेष श्लोकों में भी अत्यन्त मार्मिक धर्मोपदेश दिया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

पुण्य-पाप के उदय में भी कैसी-कैसी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ बनती हैं ? कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। एक ओर ऐसा पापोदय,

जिसके उदय में भयंकर एवं दुःखद प्रतिकूल परिस्थितियों की भरमार और दूसरी ओर पुण्योदय भी ऐसा कि मानवों की बात ही क्या ? देवी-देवता भी सहायक हो जाते हैं, सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि पापोदय के कारण जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान (मरघट) में हुआ, जन्म के पूर्व ही पिता सत्यन्धर स्वर्गवासी हो गए, माँ विजया भी असहाय हो गई; परन्तु साथ ही पुण्योदय भी ऐसा कि सहयोग और सुरक्षा हेतु स्वर्ग से देवी भी दौड़ी-दौड़ी आ गई।

पुण्यवान जीव कहीं भी क्यों न हो, उसे वहीं अनुकूल संयोग स्वतः सहज ही मिल जाते हैं। विजयारानी के प्रसव होते ही तत्काल चम्पकमाला नामक देवी धाय के वेष में वहाँ श्मशान में जा पहुँची। उसने अपने अवधिज्ञान से यह जाना कि - इस बालक का लालन-पालन तो राजकुमार की भाँति शाही ठाट-बाट से होनेवाला है। अतः देवी ने विजयारानी को आश्वस्त किया कि आप इस बालक के पालन-पोषण की चिन्ता न करें। इस बालक का पालन-पोषण बड़े ही प्यार से किसी कुलीन खानदान में रहकर धर्मप्रेमी श्रीमन्त दम्पति द्वारा योग्य रीति से होगा। देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार ही जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट और उसकी सेठानी सुनन्दा के घर सुखपूर्वक रहते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिगत होने लगे। उधर विजयारानी भी वन में तपस्वियों के आश्रम में जाकर धर्म-आराधना करते हुए अपने मानवजीवन को सफल करने लगीं।

इस ग्रन्थ के दूसरे लम्ब (अध्याय) का आरम्भ पाँच वर्षीय बालक जीवन्धर के विद्या-अध्ययन से आरम्भ होता है। एकबार जीवन्धरकुमार के गुरु सर्वविद्या विशारद आर्यनन्दी ने अपने श्रुतशालिन महाभाग शिष्य जीवन्धरकुमार को एक प्रसिद्ध पुरुष राजा लोकपाल की कथा सुनाते हुए कहा -

“न्यायप्रिय प्रजापालक राजा लोकपाल स्वयं तो धर्मात्मा थे ही, प्रजा को भी समय-समय पर धर्मोपदेश दिया करते थे। एकबार राजा

लोकपाल ने धनादि वैभव से उन्मत्त हुए अपने प्रजाजनों को उनके वैभव की मेघों की क्षणभंगुरता से तुलना करके अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया तथा स्वयं राजा लोकपाल भी क्षणभंगुर मेघमाला देख दुःखद संसार से विरक्त होकर मुनि हो गए।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार कहते हैं कि जब भव्यजीवों के आत्मकल्याण का समय आ जाता है, काललब्धि आ जाती है, तो उनमें सांसारिक विषयों से स्वतः सहज ही विरक्तता होने लगती है।^१

राजा लोकपाल ने दिगम्बर मतानुसार समस्त परिग्रह त्याग कर साधुपद की दीक्षा तो ले ली; परन्तु असाता कर्मोदय के निमित्त से उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। इस व्याधि में भूख बहुत अधिक लगती है। जो भी जितना भी वे खाते; वह क्षणभर में भस्म हो जाता। श्रेयांसि बहुविघ्नानि अर्थात् अच्छे कार्यों में बहुत विघ्न आते हैं - इस उक्ति के अनुसार मुनिराज लोकपाल की साधुचर्या भी निर्विघ्न नहीं रही। उस व्याधिजन्य क्षुधा को सहन नहीं कर पाने से उन्हें मुनिपद छोड़ना ही पड़ा; क्योंकि दिगम्बर मुनि की चर्या बहुत ही कठोर होती है। बार-बार भोजन करना मुनि की भूमिका में सम्भव नहीं है। अतः वे व्याधि के काल में भिक्षुक का वेष धारण कर भूख मिटाने का प्रयत्न करने लगे।

भस्मकरोग से पीड़ित होने से स्वयं मुनिपद से च्युत होकर भी सन्मार्ग-प्रदर्शक उपदेश द्वारा संसाररूप रोग को जड़ से उखाड़नेवाले भिक्षुकवेषधारी वही लोकपाल एक दिन भूख से व्याकुल होकर आहार के लिए दैवयोग से सेठ गन्धोत्कट के घर पहुँच गए। धर्मात्माओं के सहायक धर्मात्मा ही होते हैं, दुर्जन नहीं।^२

भिक्षुक लोकपाल की कथा को आगे बढ़ाते हुए आर्यनन्दी ने जीवन्धर-कुमार से कहा - “भिक्षुक ने वहाँ तुम्हें देखा, तुमने भी भिक्षुक को देखकर उसकी भस्मक व्याधि से उत्पन्न भयंकर भूख को ताड़ लिया।

भिक्षुक को अत्यन्त भूखा जानकर तुमने अपने रसोइये को आज्ञा दी कि भिक्षुक को भरपेट भोजन कराओ। जब घर में बना हुआ सम्पूर्ण भोजन खाने के बाद भी भिक्षुक की भूख शान्त नहीं हुई तो तुमने अपने भोजन में से भिक्षुक को भोजन दिया। तुम्हारे हाथ से एक ग्रास भोजन लेते ही भिक्षुक की भस्मक व्याधि तत्काल ठीक हो गई। तब उस भिक्षुक ने उस महान उपकार के बदले तुम्हें विद्या प्रदान करना ही सर्वोत्तम समझ तुम्हें उद्भट विद्वान बनाया।”

मुनि आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार के समक्ष रहस्योद्घाटन करते हुए बताया कि - “वह भिक्षुक अन्य कोई नहीं मैं मुनि आर्यनन्दी स्वयं ही हूँ। अपने गुरु का पुनीत परिचय प्राप्त कर जीवन्धरकुमार को भारी हर्ष हुआ।

तीसरे लम्ब (अध्याय) के प्रारम्भ में मानव के मनोविज्ञान को उजागर करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि - मानव को ऐहिक सुखों को प्राप्त करने के लिए किसी शिक्षण-प्रशिक्षण की जरूरत नहीं पड़ती, उन्हें स्वयमेव ही उनका ज्ञान हो जाता है। कहा भी है -

‘सीख बिना नर सीख रहे, विषयादिक भोगन की सुघराई’

यद्यपि राजपुरी नगरी के सेठ श्रीदत्त के पास पिता द्वारा अर्जित बहुत धन था, तथापि उसे स्वयं के हाथ से धन कमाने की इच्छा हुई। अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उसके मन में अपने पक्ष की पुष्टि में निर्धनता के दोष और धनवान होने के लाभ दृष्टिगोचर हो रहे थे। एतदर्थ वह देशान्तर भी गया और शीघ्र स्वदेश लौट आया; किन्तु देशान्तर के लिए की गई समुद्रयात्रा के प्रसंग में उसे बहुत दुःखद अनुभव हुए। भारी वर्षा के कारण जब नौका डूबने लगी तो नौका ज्यों-ज्यों जलमग्न होती, त्यों-त्यों नौका पर बैठे व्यक्ति शोकमग्न होते जाते थे। तब श्रीदत्त सेठ नौका पर बैठे हुए व्यक्तियों को समझाता है कि यदि आप लोग विपत्ति से डरते हो तो विपत्ति के कारणभूत शोक का परित्याग करो। हे विज्ञ पुरुषो ! शोक

करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि यह तो विपत्तियों का ही बुलावा है, विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयता है और निर्भयता तत्त्व-ज्ञानियों के ही होती है, अतः तुमको तत्त्वज्ञान प्राप्त करके निर्भय होना चाहिए। तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इसलोक व परलोक में सुखों की प्राप्ति होती है।”^१

श्रीदत्त आगे कहता है कि - “तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति होने पर दुःखोत्पत्ति की हेतुभूत बाह्यवस्तु भी वैराग्योत्पत्ति का कारण बनकर सुखदायक हो जाती है। श्रीदत्त आत्मसम्बोधन करते हुए अपने आप से कहता है कि - “हे आत्मन ! जिसप्रकार क्रोध लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों पर पानी फेर देता है, ठीक उसीप्रकार तृष्णारूपी अग्नि उभयलोक को नष्ट करनेवाली है।”^२

यात्रा के दौरान सेठ श्रीदत्त गरुड़वेग राजा से मिला। राजा ने सेठ का समुचित सत्कार किया तथा अपनी गन्धर्वदत्ता पुत्री श्रीदत्त को सौंपते हुए कहा कि - इसके जन्मलग्न के समय ही ज्योतिषियों ने इसके विवाह की घोषणा की थी। अतः इसका योग मिलाने हेतु आप इसे राजपुरी ले जाएँ। इसप्रकार इस लम्ब में भी गन्धर्वदत्ता के वर के विषय में ज्योतिषी ने पहले ही घोषित कर दिया कि इस राजपुरी नगरी में जो कोई वीणा बजाने में इसे हराएगा, वही भूमिगोचरी इसका स्वामी होगा। वीणा बजाने में निपुण जीवन्धरकुमार ने वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता को जीत लिया, फलस्वरूप गन्धर्वदत्ता ने उनके गले में वरमाला डाल दी।” इस पूर्व निर्धारित घटना से भी वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त फलित होता है।

धर्मपराङ्मुख, अधार्मिक, क्रूर व्यक्तियों की मानसिकता पर खेद प्रगट करते हुए ग्रन्थकार चौथे लम्ब (अध्याय) में यह कहते हैं कि -

१. तृतीयलम्ब : श्लोक १६, १७, १८

२. वही : श्लोक २१, २२, २३

“ऐसे व्यक्ति जब बिना कारण प्राणियों की हिंसा करने में नहीं हिचकते; यदि उन्हें झूठ-मूठ भी कोई कारण मिल जाए और मना करनेवाला कोई न हो, तब तो उनकी क्रूरता का कहना ही क्या है ? ऐसे ही कुछ क्रूर लोगों ने हवन सामग्री जूठी करने के कारण मात्र से कुत्ते को मार-मार कर अधमरा कर दिया।

वसन्तोत्सव की जलक्रीड़ा देखने नदी किनारे गए जीवन्धरकुमार ने वहाँ लोगों द्वारा उस मरणासन्न किए गए कुत्ते को देखा, उन्होंने उस मरणकालिक पीड़ा से छटपटाते हुए घायल कुत्ते को, पहले तो बचाने के अनेक प्रयत्न किए; परन्तु जब बचने की आशा नहीं रही तो मरण सुधारने हेतु उसके कान में णमोकार महामन्त्र सुनाया। णमोकार महामन्त्र को सुनकर मन्दकषाय से मरण के कारण वह कुत्ता यक्षेन्द्र हुआ। यक्षेन्द्र ने जन्म लेते ही अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव की सारी घटना जानकर ज्ञात कर लिया कि जीवन्धरकुमार द्वारा दिए गए णमोकार मन्त्र के पुण्य प्रताप से ही मैं यक्ष हुआ हूँ। न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति की उक्ति के अनुसार वह तत्काल जीवन्धरकुमार के पास आया और अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर उनका परम उपकार मानते हुए बोला - “जब भी आपको मेरी सहायता की जरूरत हो मुझे, अवश्य स्मरण कीजिए” - बारम्बार यह निवेदन करके चला गया।

उपर्युक्त घटना से पाठकों को पहला सन्देश तो यह मिलता है कि क्रूर, दुष्ट और अधार्मिक व्यक्तियों से सदैव दूर से ही हाथ जोड़ लेना चाहिए। उनके सम्पर्क में भी कभी नहीं रहना चाहिए।

दूसरा सन्देश यह मिलता है कि दुःखी या सताए हुए जीवों की सुरक्षा एवं हर सम्भव सहायता करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए। किया गया उपकार कभी निरर्थक नहीं जाता, भले ही हम निःस्वार्थ भाव से ही करें, तथापि बुरे काम का बुरा नतीजा एवं भले काम का भला नतीजा तो मिलता ही है।

जलक्रीड़ा का उत्सव देखने सुरमञ्जरी और गुणमाला भी नदी किनारे गई थीं। उन दोनों के पास स्नानोपयोगी भिन्न-भिन्न प्रकार के चूर्ण (पाउडर) थे। दोनों सखियों में अपने-अपने चूर्ण की उत्कृष्टता पर विवाद हो गया। विवाद में यह तय हुआ कि परीक्षण के बाद जिसका चूर्ण अनुपयोगी सिद्ध होगा, उसे नदी में स्नान किए बिना ही वापिस जाना होगा। चूर्ण परीक्षकों के पास भेजा गया, परीक्षोपरान्त जीवन्धरकुमार द्वारा किए गए निष्पक्ष और सप्रमाण परिणाम के अनुसार गुणमाला का चूर्ण श्रेष्ठ साबित हुआ।

गुणमाला नदी में स्नानकर कुटुम्बीजनों और नौकरों के साथ वापिस लौट रही थी कि रास्ते में काष्ठांगार के एक मदोन्मत्त हाथी ने उसे घेर लिया। इस मौके पर कुटुम्बीजन तो डर कर भाग गए, पर जीवन्धरकुमार जलक्रीड़ा के पश्चात् उसी मार्ग से वापिस आते हुए अचानक वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने हाथी को अपने कुण्डल से ताड़ित कर भगा दिया।

बस, फिर क्या था ? जीवन्धरकुमार के पराक्रम, साहस और बुद्धिबल से प्रभावित होकर गुणमाला के हृदय में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया, फलस्वरूप कालान्तर में दोनों का विवाह हो गया।

कथानक को आगे बढ़ाते हुए **पाँचवे लम्ब (अध्याय)** में कहा गया है कि - गुणमाला की प्राणरक्षा के निमित्त जीवन्धरकुमार द्वारा परास्त और तिरस्कृत हुए हाथी ने खाना-पीना भी छोड़ दिया।

इस घटना से ग्रन्थकार पाठकों को यह सन्देश देना चाहते हैं कि तिरस्कार को जब पशु भी सहन नहीं कर पाते तो **अकारण किया गया मानवों का तिरस्कार किसी भी सज्जन पुरुष को कैसे सहन हो सकता है ? अतः यदि हम स्वयं शान्ति से रहना चाहते हैं तो कम से कम अकारण तो किसी का भी तिरस्कार न करें।**

देखो, हाथी ने तो मात्र खाना-पीना ही छोड़ा था, तिरस्कृत मानव तो कषायवश कुछ भी अनर्थ कर सकता है। और तो ठीक, अपने व दूसरों का प्राणघात भी कर सकता है।

जीवन्धरकुमार द्वारा हाथी को तिरस्कृत करने की बात ने हाथी के स्वामी काष्ठांगार के हृदय में अनंगमाला के वरण के कारण पहले से प्रज्वलित क्रोधाग्नि में घी डालने का काम किया। क्रुद्ध काष्ठांगार के द्वारा जीवन्धरकुमार को पकड़वाने के लिए आए सैनिकों से लड़ने के लिए तत्पर जीवन्धरकुमार को युद्ध करने से यदि सेठ गन्धोत्कट नहीं रोकते तो निश्चित ही काष्ठांगार और जीवन्धरकुमार के बीच घमासान युद्ध होता।

सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार को मात्र युद्ध लड़ने से रोका ही नहीं; अपितु जीवन्धरकुमार के दोनों हाथों को पीठ की ओर पीछे करके कसकर बाँधकर उन्हें काष्ठांगार के समक्ष प्रस्तुत भी कर दिया। प्रतिकार करने में पूर्ण समर्थ जीवन्धरकुमार अपने धर्मपिता की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करना नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने कुछ भी प्रतिक्रिया या रोष तो प्रगट किया ही नहीं; प्रतिकार भी नहीं किया। इस संकटकाल में उन्हें अनायास ही उस यक्षेन्द्र का स्मरण आ गया, जिसने उनके द्वारा दिए णमोकार मन्त्र के प्रताप से ही यक्षेन्द्र पद प्राप्त किया था। उनके स्मरण करते ही वह तुरन्त आया और जीवन्धरकुमार को अपनी विक्रिया शक्ति से चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया। वहाँ उसने क्षीरसागर के जल से जीवन्धरकुमार का अभिषेक कर उन्हें सम्मानित किया और तीन शक्तिशाली मन्त्र भी दिए। **प्रथम मन्त्र में** - इच्छानुकूल वेष बदलने की शक्ति थी, **दूसरे मन्त्र में** - मनमोहक गाना गाने की शक्ति थी तथा **तीसरे मन्त्र में** - हलाहल विष को दूर करने की शक्ति थी। साथ ही यह भविष्यवाणी भी की कि 'तुम एक वर्ष में ही राजा बन जाओगे और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करोगे।'

यह घटना यह सन्देश देती है कि - कैसा भी संकट क्यों न आए, अपने पूज्य माता-पिता और गुरुजन की इच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए तथा दीन-दुःखियों के प्रति करुणा, प्राणिमात्र की रक्षा और परोपकार की भावना रखनी चाहिए तथा शत्रु के प्रति साम्यभाव रखना चाहिए। अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल विचारकर दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए।

कथानक को आगे बढ़ाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि -

जीवन्धरकुमार चन्द्रोदय पर्वत से घूमते हुए एक वन में आए। वहाँ चारों ओर लगी हुई दावाग्नि से जलते हुए हाथियों को देख दयार्द्र हो उन्होंने सदय हृदय से हाथियों को बचाने की इच्छा की। तदनुसार मेघवृष्टि हुई और दावाग्नि बुझने से उन हाथियों की रक्षा हुई।

वहाँ से प्रस्थान कर अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना करते हुए वे चन्द्राभा नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा धनमित्र की सुपुत्री पद्मा को साँप ने काट लिया था। जीवन्धरकुमार ने अपने दूसरे मन्त्र के प्रभाव से उसे तत्काल जीवित कर दिया। तब राजा ने बहुत सम्मान कर आधा राज्य देकर अपनी उस पद्मा नामक कन्या का उनके साथ विवाह कर दिया।

इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से प्राप्त मन्त्र शक्तियों का सदुपयोग करके परोपकार का कार्य ही किया।

यह घटना हमें यह सन्देश देती है कि पुण्योदय से प्राप्त अन्तरंग-बहिरंग वैभव का अपने भोगों की प्राप्ति में दुरुपयोग न करके परोपकार में ही उसका सदुपयोग करना चाहिए।

छठवें लम्ब (अध्याय) में कथानक को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि - जीवन्धरकुमार कुछ दिन चन्द्राभा नगरी में रहने के बाद वहाँ से प्रस्थान कर मार्ग में आए अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना करते हुए एक तपस्वियों के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तपस्वियों को मिथ्यातप करते

देख उन्हें सत्पात्र जानकर जिनेन्द्रप्रणीत धर्मोपदेश द्वारा यथार्थ तप का स्वरूप समझाकर सन्मार्ग में लगाया।

इस कथानक द्वारा ग्रन्थकार यह सन्देश देना चाहते हैं कि - **हम जहाँ भी जाए, अन्य विकथा करने की अपेक्षा धर्मचर्चा ही करें तथा उन्मार्ग में उलझे मानवों को सन्मार्ग में लगाने का सत्कार्य ही करें।**

जीवन्धरकुमार उन तपस्वियों के आश्रम से प्रस्थानकर दक्षिण देश के उस सहस्रकूट चैत्यालय में पहुँचे, जिस चैत्यालय के किवाड़ बहुत समय से बन्द थे।

इन बन्द किवाड़ों के सम्बन्ध में वहाँ के ज्योतिषियों द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार यह दन्तकथा प्रचलित थी कि - जिस पुण्यात्मा पुरुष के निमित्त से ये बन्द किवाड़ खुलेंगे, वही सेठ सुभद्र की पुत्री क्षेमश्री का पति होगा। एतदर्थ वहाँ सेठ सुभद्र ने अपने गुणभद्र नामक नौकर को बैठा रखा था।

यह एक सुखद संयोग ही था कि वे बन्द किवाड़ जीवन्धरकुमार के आते ही खुल गए। ज्यों ही नौकर ने यह देखा कि जीवन्धरकुमार के निमित्त से किवाड़ खुल गए तो वह खुशी से नाच उठा और यह खुशखबरी अपने स्वामी को देने के लिए जाने को तत्पर हुआ ही था कि जीवन्धरकुमार ने उससे पूछा - तुम कौन हो और अचानक इतने हर्षित क्यों हो रहे हो ? इस प्रश्न के उत्तर में गुणभद्र ने अपना पूरा परिचय देते हुए वह प्रचलित दन्तकथा विस्तार से जीवन्धरकुमार को सुना दी और स्वामी के पास जाकर जीवन्धरकुमार के शुभागमन का सारा समाचार उनको सुनाया।

सेठ सुभद्र शीघ्र ही उस चैत्यालय में आया और जीवन्धरकुमार का भावभीना स्वागत कर अपने घर ले गया। कुछ समय बाद उसने शुभमुहूर्त में अपनी पुत्री क्षेमश्री का विवाह जीवन्धरकुमार से कर दिया।

इस प्रकरण से यह सन्देश मिलता है कि पुण्योदय के प्रभाव से लोक में कैसी-कैसी असम्भव-सी लगनेवाली वस्तुएँ भी सहज

सुलभ हो जाती हैं। पर ध्यान रहे, ऐसा उत्कृष्ट पुण्य उन पुण्य के लोभियों को नहीं बँधता, जो उस पवित्र पुण्य को लौकिक भोगों को प्राप्त करने के लिए भुनाना चाहते हैं, बल्कि उन्हें बँधता है जो निष्काम धर्माराधना करते हैं।

सातवें लम्ब (अध्याय) में कहा गया है कि जब जीवन्धरकुमार क्षेमपुरी से प्रस्थान करके आगे बढ़े तो उन्हें मार्ग में एक कृषक मिला। उन्होंने उसे सत्पात्र जानकर तत्त्वज्ञान कराते हुए अष्ट मूलगुण समझाकर सच्चा श्रावक बनाया और आगे बढ़ गए।

वह सुगन्ध-सुगन्ध ही क्या जो अपने चारों ओर के वातावरण को सुगन्धित न करे। धर्मप्राण जीवन्धरकुमार जहाँ भी जाते, अपने धार्मिक संस्कारों की सुगन्ध बिखेरते ही जाते।

जीवन्धरकुमार वनमार्ग से जाते हुए क्षणिक विश्राम हेतु एक पत्थर पर बैठे ही थे कि एक विद्याधरी ने उन्हें देखा। देखते ही वह उनके रूप लावण्य पर मोहित हो गई। वह जीवन्धरकुमार को अपना परिचय देते हुए बोली - मैं अनंगतिलका नामक एक अनाथ कन्या हूँ। मेरे छोटे भाई का साला पहले तो मुझे बलात् यहाँ ले आया और फिर अपनी पत्नी के भय से उसने मुझे यहाँ वन में अकेला ही छोड़ दिया है; अतः आप मेरी रक्षा करने की कृपा करें।

जीवन्धरकुमार को एकान्त में किसी परनारी से बात करना अभीष्ट नहीं था; क्योंकि वे जानते थे कि नीतिकारों ने जो स्त्रियों का अंगार के समान और पुरुष को नवनीत के समान बताया है, वह ठीक है। इसी ग्रन्थ के सातवें लम्ब में कहा भी है -

अङ्गारसदृशी नारी नवनीतसमा नराः।

तत्तत्सान्निध्यमात्रेण द्रवेत्पुसां हि मानसम् ॥४१॥

अतः वे बिना कुछ कहे-सुने वहाँ से प्रस्थान करने के लिए तैयार हुए ही थे कि उन्होंने पास से आती हुई यह आवाज सुनी कि - “हे प्राणप्यारी!

मुझे छोड़कर तू कहाँ चली गई? तेरे बिना तो मेरे प्राण ही निकले जा रहे हैं।” - यह विलाप उस औरत ने भी सुना। विलाप सुनते ही वह समझ गई कि यह तो मेरे पति की ही आवाज है; अतः झूठ का रहस्योद्घाटन होने के भय से वह स्त्री वहाँ से बहाना बनाकर अन्यत्र चली गई। इतने में ही वह विलाप करनेवाला व्यक्ति जीवन्धरकुमार के पास आया और बोला - मैं अपनी पत्नी को यहाँ बिठाकर जल लेने गया था, वापिस आकर देखता हूँ कि वह यहाँ नहीं है। उसके बिना मेरी विद्याएँ भी नष्टप्राय हो गई हैं। उसकी दयनीय दशा देखकर जीवन्धरकुमार ने उसे इस असार संसार के स्वरूप का बोध कराते हुए बहुत समझाया; परन्तु उस मोही प्राणी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सो ठीक ही है, मोही व्यक्ति मोह में विवेकशून्य हो ही जाता है। उसे हिताहित का विवेक नहीं रहता।

जीवन्धरकुमार उस वन से प्रस्थान कर हेमाभा नगरी के समीप पहुँचे। वहाँ एक बाग में राजा दृढमित्र के पुत्र सुमित्र आदि बहुत-से राजकुमार अपने-अपने बाणों द्वारा आम के फलों को तोड़ना चाहते थे; परन्तु धनुर्विद्या में निपुण न होने से असफल हो रहे थे। जीवन्धरकुमार ने एक ही बाण से आमफल को बेध कर नीचे गिरा दिया। तब राजकुमारों ने अपना परिचय देते हुए जीवन्धरकुमार से विनम्र निवेदन किया कि - हमें धनुर्विद्या में निपुण बनाने के लिए हमारे पिता आप जैसे ही किसी धनुर्विद्या में निपुण विद्वान की खोज में हैं, अतः आप उनसे मिलने की कृपा करें। उन्हें पात्र जानकर जीवन्धरकुमार राजा दृढमित्र से मिले और राजा के निवेदन करने पर जीवन्धरकुमार ने राजकुमारों को धनुर्विद्या में निपुण कर दिया।

राजा ने इस महान उपकार से उपकृत होकर एवं अपनी कनकमाला कन्या के योग्य वर जानकर उनके साथ कनकमाला का विवाह कर दिया।

इस बात से भी यही सन्देश मिलता है कि **पुण्यवान और धर्मात्मा व्यक्ति जहाँ भी जाएगा, उसे सम्मान तो मिलेगा ही, लोग उसे अपनाने, अपना बनाने में भी गौरवान्वित होंगे।**

आठवें लम्ब (अध्याय) का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे समुद्र के तट पर बैठ तटस्थभाव से लहरों का आनन्द लेनेवाले विवेकी तो जीवित रहते हैं, सुखी रहते हैं; परन्तु समुद्र के बीच गहरे पानी में गोते लगानेवाले जीवित नहीं रहते; वैसे ही अल्पराग करनेवाले तो सुखी रहते हैं; किन्तु अधिक अनुराग करनेवाले सुखी नहीं रहते।

इस नीति का विचार करनेवाले विवेकी जीवन्धरकुमार कनकमाला से विवाह करके उसके मोह में अधिक आसक्त नहीं हुए; फिर भी अपने सालों के स्नेह विशेष के वश में वहाँ बहुत समय तक रहे।

एकबार एक स्त्री द्वारा उन्हें अपने छोटे भाई नन्दाद्वय को कनकमाला के पितृगृह आयुधशाला में आने का समाचार मिला तो वे वहाँ दौड़े-दौड़े गए और वहाँ नन्दाद्वय को पाकर प्रसन्न हुए तथा उससे वहाँ आने का कारण जानना चाहा। उत्तर में नन्दाद्वय ने बताया कि - 'काष्ठांगार ने आपको मार डालने का निश्चय किया है।' - यह ज्ञात होते ही मैं भाभी गन्धर्वदत्ता के पास गया। वहाँ भाभी को प्रसन्नचित्त देख मुझे इस बात का आश्चर्य हुआ कि - आपकी मृत्यु का समाचार जानकर भी भाभी प्रसन्न हैं! आखिर क्यों? पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपनी विद्या के बल से यह सब पहले ही ज्ञात कर लिया है कि आप यक्षेन्द्र द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-शान्ति से रह रहे हैं। मेरी आपसे मिलने की इच्छा जानकर उन्होंने ही यहाँ मुझे विद्याबल से आपके पास भेज दिया है। इसप्रकार जीवन्धरकुमार की छोटे भाई से भेंट हो गई। इसीप्रकार धीरे-धीरे चोर बनकर आए मित्रों द्वारा आश्रम में रह रही माँ की कुशलता का समाचार भी जीवन्धरकुमार को मिल गया। यह सब प्रसंग बताते हुए ग्रन्थकार ने

इस आठवें अध्याय के अन्त में सागरदत्त वैश्य की पुत्री विमला से हुए जीवन्धरकुमार के विवाह की चर्चा भी खुलकर की है।

इसके बाद **नौवें लम्ब (अध्याय)** में - ग्रन्थकार कहते हैं कि -

एकबार जीवन्धरकुमार के मुँहबोले बुद्धिषेण विदूषक ने उनसे मनोविवाद करते हुए चुनौती की भाषा में कहा कि - पुरुषों में अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित एवं आकर्षित होनेवाली गुणानुरागिनी योग्य वर की अभिलाषी स्त्रियों के साथ विवाह करने में आपकी क्या विशेषता है? हाँ, पुरुषवर्ग की छाया भी न सहनेवाली सुरमञ्जरी के साथ यदि आप विवाह करें तो ही आपका विशेष महत्त्व और सौभाग्य समझा जाएगा।

विदूषक की चुनौती को सहर्ष स्वीकार करते हुए जीवन्धरकुमार यक्ष द्वारा प्रदत्त मन्त्र के द्वारा वृद्ध ब्राह्मण का वेष धारण कर सुरमञ्जरी के पास पहुँच गए।

सुन्दरी ने उस वृद्ध ब्राह्मण को भूखा समझ कर भोजन कराया। भोजन कर चुकने पर कुछ आराम कर वृद्ध ने मन्त्र के प्रभाव से अति मधुर गाना गाया, जिसे सुनकर सुरमञ्जरी उसे अधिक शक्तिशाली समझ कर बोली कि आप गाने के समान अन्य बातें भी जानते हैं क्या? उसने उत्तर दिया कि हाँ, तब उस सुरमञ्जरी ने अपने इच्छित वर की प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध ने कहा कि - कामदेव के मन्दिर में चलकर उसकी उपासना करो, तुम्हें इच्छित वर प्राप्त हो जाएगा।

तब सुरमञ्जरी उस वृद्ध की बात पर विश्वास कर कामदेव के मन्दिर में गई और प्रार्थना करने लगी कि हे देव! आपके प्रसाद से मुझे पति के रूप में जीवन्धरकुमार की प्राप्ति हो। जीवन्धरकुमार का मित्र बुद्धिषेण नामक विदूषक पहले से ही कामदेव के मन्दिर में आकर छिप गया था। उस विदूषक ने कहा कि - तुझे वर प्राप्त हो चुका है, वे तेरे साथ ही हैं। भोली-भाली सुरमञ्जरी ने भी उस विदूषक के वचन को कामदेव का ही वचन मान लिया।

वृद्ध ने विदूषक का वचन सुनते ही अपना वेष बदल लिया। तब सुरमञ्जरी उसे जीवन्धरकुमार जानकर बहुत लज्जित हुई। इसके पश्चात् सुरमञ्जरी के पिता कुबेरदत्त ने शुभलग्न में अपनी सुपुत्री सुरमञ्जरी का जीवन्धरकुमार के साथ विवाह कर दिया।

दसवें लम्ब (अध्याय) में कहा गया है कि -सुरमञ्जरी के साथ विवाह होने पर जीवन्धरकुमार अपने धर्म के माता-पिता सुनन्दा एवं गन्धोत्कट के पास गए। धर्मपिता से अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने हेतु परामर्श करके उनकी सम्मति से अपने मामा गोविन्दराज के पास गए। गोविन्दराज पहले से ही इसके लिए चिन्तित और प्रयत्नशील थे। संयोग से इसी बीच काष्ठांगार का एक सन्देश गोविन्दराज के पास पहुँचा था, जिसे गोविन्दराज ने अपने मन्त्रियों को सुनाया। उस सन्देश में काष्ठांगार ने छल से यह झूठा समाचार लिखा कि महाराज सत्यन्धर की मृत्यु एक मदोन्मत्त हाथी के द्वारा हुई है, किन्तु अशुभ कर्म के उदय से मैं उस अपयश का भागी बन गया हूँ। यदि आप मेरी बात पर विश्वास करें और यहाँ आकर मुझसे मिलने की कृपा करें तो मैं बिलकुल निःशल्य हो जाऊँगा।

काष्ठांगार के छल भरे सन्देश को सुन गोविन्दराज ने उसकी चालाकी भाँप ली। अतः अपने मन्त्रियों को सावधान किया कि नीच काष्ठांगार मीठी-मीठी बातें बनाकर हम लोगों को राजपुरी में बुलाकर किसी मायाचार के जाल में फँसाना चाहता है। इसलिए हम लोग वहाँ जाएँगे तो अवश्य; पर उसके चंगुल में फँसने के लिए नहीं; बल्कि उसको उसकी चालाकी का मजा चखाने के लिए जाएँगे। अतः सशस्त्र सेना की तैयारी करो। इसी रीति-नीति के अन्तर्गत गोविन्दराज ने यह ढिंढोरा भी पिटवा दिया कि - काष्ठांगार के साथ हमारी भी मित्रता हो गई है, अतः हम उससे मिलने जा रहे हैं। पश्चात् गोविन्दराज जीवन्धरकुमार को साथ लेकर सेना सहित

राजपुरीनगरी के निकट पहुँचकर नगरी के बाहर ही ठहर गए। वहाँ गोविन्दराज ने ऐसा स्वयंवर मण्डप बनवाया, जिसमें एक चन्द्रकयन्त्र स्थापित किया और यह घोषणा कराई कि जो व्यक्ति इस मन्त्र का भेदन करेगा उसे मैं अपनी लक्ष्मणा नामक कन्या प्रदान करूँगा।

एतदर्थ अनेक धनुर्धारी राजा एवं राजकुमार पूरी तैयारी के साथ आए; परन्तु कोई भी उस चन्द्रकयन्त्र का भेदन नहीं कर सका। अन्त में जीवन्धरकुमार ने जब चुटकियों में ही अर्थात् बहुत जल्दी, सहज खेल ही खेल में उस यन्त्र को भेद दिया तो दर्शकों ने दाँतो तले अँगुली दबा ली अर्थात् दर्शक आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे - अरे ! यह कौन है ? कहाँ का राजकुमार है ? तब गोविन्दराज ने गौरव के साथ परिचय दिया - “यह राजपुरी के स्वर्गीय महाराजा सत्यन्धर के पुत्र और मेरा भानजा जीवन्धरकुमार हैं।” अनेक राजाओं के मुँह से निकला “हम भी इनके बल-विक्रम एवं उत्साहपूर्ण चेष्टाओं से यही अनुमान कर रहे थे।”

फिर क्या था ? यह सुनते ही काष्ठांगार की आँखों के आगे अँधेरा छा गया, वह पसीना-पसीना हो गया, उसके दिल की धड़कन बढ़ गई; वह सोचने लगा - यह तो मेरे साले मथन द्वारा मार दिया गया था, फिर यह जीवित कैसे हो गया ? मैंने इसके मामा को यहाँ बुलाकर अपने हाथों ही अपने पैर पर पत्थर पटक लिया। अपने मामा का बल पाकर यह मेरा अनर्थ अवश्य करेगा; इसप्रकार की चिन्ता से उसे दारुण दुःख हो गया।

इस कथानक से ग्रन्थकार ने पाठकों को यह सन्देश दिया है कि जिसके पाप का घड़ा भर जाता है, उसका विस्फोट एक न एक दिन तो होता ही है और उस भयंकर विस्फोट से वह पापी कभी बच नहीं सकता। अतः यदि पापी पाप करने से पहले उसके दुष्परिणाम पर थोड़ा भी सोचे तो फिर उससे कोई पाप होगा ही नहीं। इसीलिए तो कहा है -

भला-बुरा यदि कुछ काम कीजे, परन्तु पूर्वापर सोच लीजे।

बिना विचारे यदि काम होगा, अच्छा न उसका परिणाम होगा।।

इधर जीवन्धरकुमार के मित्रों और हितैषियों ने यह परामर्श दिया कि अपने राज्य को वापिस हस्तगत करने और शत्रु को परास्त करने का यही सबसे अच्छा अवसर है। इस समय काष्ठांगार आपके बल-पराक्रम से आतंकित है, हतोत्साहित है। बस फिर क्या था ? युद्ध हुआ और काष्ठांगार अपने ही बुने जाल में बुरी तरह उलझकर मारा गया।

पूर्व घोषणा के अनुसार मामा गोविन्दराज की पुत्री लक्ष्मणा का जीवन्धर-कुमार के साथ विवाह हो गया। राजपुरीनगरी के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक महोत्सव के साथ जीवन्धरकुमार महाराजा जीवन्धर बन गए। छोटे भाई नन्दाद्वय को युवराज पद पर आसीन किया गया। अन्य सहयोगियों को भी यथायोग्य पद प्रदान किए गए।

कथानक को समापन की ओर ले जाते हुए प्रस्तुत **ग्यारहवें लम्ब (अध्याय)** में ग्रन्थकार कहते हैं कि - जिस राज्य को पाकर काष्ठांगार ने अपने कुशासन से निन्दा ही निन्दा पाई, उसी राज्य में सर्वगुणसम्पन्न राजनीति विशारद जीवन्धरकुमार प्रशंसा के पात्र बन गए।

जब राजा जीवन्धर ने अपने पिता की खोई राजसत्ता भली-भाँति सम्भाल ली और दुष्ट काष्ठांगार को उसके किए कुकर्म की सजा देकर अपनी पूज्य माताजी को अपनी योग्यता का परिचय दे दिया तो रानी विजया अपने सर्वगुण-सम्पन्न सुपुत्र को पाकर गौरवान्वित हुई; पर साथ ही अपने पुत्र जीवन्धर के जन्म से राजसिंहासन प्राप्त करने तक के अनेक उतार-चढ़ावों के साथ हुई जीवनयात्रा में पुण्य-पाप की विचित्रता को प्रत्यक्ष अनुभव करके तथा इस स्वार्थी और भोगलोलुपी जगत की नीच वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर, वे संसार से उदास भी हो गईं। वे शास्त्रों में लिखी बारहभावना और वैराग्यभावना का एक-एक दृश्य आँखों के

आगे प्रत्यक्ष देख विरक्त हुईं। रानी विजया ने सबसे मोह-ममता छोड़ गृह विरक्त होने का संकल्प कर लिया और भावना भायी कि - “संसार का सुख सचमुच सुखाभास है, इसमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। अतः अब इन सबके प्रति ममत्व का त्यागकर शेष सम्पूर्ण समय को देव-शास्त्र-गुरु की शरण में जाकर आत्महित में लगाना चाहिए। शुभाशुभ कर्मफल के चक्र में पड़ा रहना उचित नहीं है।”

विजयारानी के वैराग्य को देखकर जीवन्धरकुमार की धर्ममाता सुनन्दा भी संसार को असार जानकर विरक्त हो गईं और दोनों ने वन में जाकर पद्मा नामक प्रधान आर्यिका से आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए।

इस कथन से पाठकों को यह सन्देश मिलता है कि **विवेकीजनों को अपने उत्तरदायित्वों से निर्वृत्ति मिलने पर कम से कम अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में तो आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाना ही श्रेयस्कर है।**

इधर राजनीति में निपुण महाराजा जीवन्धर के सुख-शान्तिपूर्वक राज करते हुए ३० वर्ष भी ३० दिन की भाँति बहुत शीघ्र व्यतीत हो गए। सुख का लम्बा समय कब/कैसे बीत गया, पता तक नहीं चला। एक दिन की बात है - वसन्त ऋतु का सुहावना समय था, पुण्ययोग से सबप्रकार की अनुकूलता थी। अच्छा मौसम देख एक दिन महाराजा जीवन्धर ने अपनी आठों रानियों के साथ जलक्रीड़ा का महोत्सव मनाया। जब वे जलक्रीड़ा के श्रम से थक गए तो समीपवर्ती किसी लतामण्डपवाले बगीचे में जाकर बन्दरों की जो चेष्टाएँ देखीं, उससे उन्हें ऐसा लगा कि मनुष्यों की भाँति क्या पशुओं में भी ऐसी समझ, समर्पण तथा नैतिकता की अपेक्षाएँ होती हैं कि - जो बन्दर जिसको अपना ले, अपना बना ले; उसे उसके सिवाय अन्य से सम्बन्ध जोड़ना अनैतिकता है, वहाँ उस बगीचे में एक बन्दर ने ऐसी ही हरकत की, अपनी प्रेमिका के सामने अन्य वानरी से छेड़खानी की; उससे उसकी प्रेमिका नाराज हो गई तो उसे मृत होने का

नाटक करके अपनी प्रेमिका को मनाना पड़ा, किन्तु बगीचे के मालिक ने वह कटहल का फल उसकी प्रेमिका से छीन लिया।

इस घटना को देखकर महाराजा जीवन्धर विचार करते हैं कि देखो ! यह कटहल राज्य के समान है, मैं इस वनपाल के समान हूँ और काष्ठांगार बंदर के समान है। यह राज्य किसी का न हुआ है, न हो सकता है। यह तो जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत को चरितार्थ कर रहा है। अतः मुझे भी इस राज्य का त्याग कर अपने आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यह संसार ही क्षणभंगुर है, जगत स्वार्थी है और यह सब पुण्य-पाप की विडम्बना है। मोह के चक्र में उलझा रहकर मुझे अपना शेष अमूल्य मानव-जीवन बर्बाद नहीं करना चाहिए। इसप्रकार उस वसन्त महोत्सव में वानर-वानरी और वनपाल की घटना से महाराजा जीवन्धर भी संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गए।

जिनवाणी के मर्मज्ञ वैराग्य को प्राप्त महाराजा जीवन्धर ने उस उपवन से लौटते हुए मार्ग में जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्र अर्चना की तथा वहाँ विराज रहे चारणऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मोपदेश सुना। मुनिराज ने अपने उपदेश में महाराजा जीवन्धर के वैराग्य को बढ़ाने में निमित्तभूत उनके ही पूर्वजन्म का वृत्तान्त भी सुनाया। फलस्वरूप वे घर पहुँचकर अपने पुत्र सत्यन्धर का राजतिलक करके अपनी आठों पत्नियों सहित महावीर भगवान के समवशरण में पहुँचे। वहाँ स्तुति-वन्दना के उपरान्त वैरागी जीवन्धरकुमार ने बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा जो संसार के स्वरूप का और वस्तुस्वरूप का विचार किया वह विस्तृत रूप से तो ग्रन्थकार की भाषा में ही मूलतः पठनीय है; परन्तु पाठकों के लाभार्थ उसका संक्षिप्त सार यहाँ दे रहे हैं; जो इसप्रकार है -

बारह भावनाओं का चिन्तन करते हुए जीवन्धरकुमार सोचते हैं -

“मनुष्य पैदा हुए, पुष्ट हुए, फिर नष्ट हो गए। यह संसारी प्राणियों की परिपाटी है। इसलिए हे आत्मन ! तू अपने ध्रुव आत्मा का आलम्बन ले, जिससे पुनः पुनः जन्म-मरण न करना पड़े।

पानी के बुलबुलेवत यह मनुष्य जीवन क्षणमात्र भी स्थिर नहीं है और प्राणियों की इच्छाएँ करोड़ों से भी अधिक हैं। ऐसी स्थिति में एक तो उनकी पूर्ति सम्भव नहीं है। कदाचित् पुण्योदय से थोड़ी बहुत पूर्ति हो भी जाए तो प्राप्त वस्तुएँ और वे इच्छाएँ भी स्थिर नहीं हैं, प्रतिक्षण पुण्य क्षीण होता है। फलतः वस्तुएँ भी नष्ट होती हैं, पुनः पुनः नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिनकी पूर्ति असम्भव है। अतः तत्त्वज्ञान के अवलम्बन से इन विषयों की इच्छाओं का त्यागकर इन पर विजय प्राप्त करना एवं ध्रुवधाम आत्मतत्त्व का अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है।” अशरणभावना के माध्यम से वस्तुस्थिति का विचार करते हैं कि -

“हे आत्मन् ! मन्त्र और तन्त्र भी तेरे पुण्य बिना सम्यक् शरणभूत नहीं हो सकते। यदि पुण्य बिना ही ये शरणभूत होते तो कोई मरता ही क्यों ? मन्त्र-तन्त्र-वादियों की दुनिया में कहाँ कमी है; एक ढूँढो हजार मिलते हैं; पर पुण्य बिना सब निरर्थक सिद्ध होते हैं।

जब मृत्यु का समय आ जाता है, तब कोई भी बचा नहीं रह सकता। अतः वस्तुतः तेरा आत्मा ही तेरे लिए शरणभूत है, उसी की शरण में जा।

संसारभावना से संसार की असारता का विचार करते हैं कि - हे आत्मन ! तू अपने कर्म से अनेक वेष धारण करके नट के समान पाप से तिर्यचगति एवं नरकगति में, पुण्य से देवगति में और पुण्य-पाप दोनों से मनुष्यगति में घूम रहा है।

हे आत्मन ! तू जिन सांसारिक भोगों को अनेक बार भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ और जिसे जूठन की भाँति छोड़ चुका है, उसी जूठन को पुनः

प्राप्त करने के लिए तू उत्सुक होता है और जिस अतीन्द्रिय आनन्दमय मोक्ष सुख को तूने आज तक नहीं भोगा, उसे पाने की चेष्टा नहीं करता। अतः संसार की असारता का विचार कर और सुखस्वरूपी आत्मा में उपयोग स्थिर कर।”

एकत्वभावना का चिन्तन करते हुए जीवन्धरकुमार विचार करते हैं कि -

“इस संसार में धर्म ही एकमात्र ऐसा है जो जीव को परलोक के सुख का साथी होता है। पुण्योदय से प्राप्त शेष सब संयोग यहीं रह जाते हैं। जैसे कि - बन्धुगण श्मशान तक ही साथ देते हैं, धन घर में ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बनकर रह जाता है।

हे आत्मन ! जब अकेला तू ही स्वयं कर्मों का भोक्ता और कर्मों का नाशक है तो स्वाधीनता से प्राप्त होनेवाली मुक्ति को या आत्मस्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ?”

अन्यत्वभावना का चिन्तन करते हुए सोचते हैं कि “आत्मन ! तू शरीर में आत्मबुद्धि कभी भी मत कर; क्योंकि यद्यपि कर्मोदयवश देह और आत्मा एकमेक हो रहे हैं; तथापि जैसे तलवार म्यान से जुड़ी रहती है, वैसे ही शरीर में रहते हुए भी तू शरीर से अलग है।”

इसीप्रकार **अशुचिभावना** के माध्यम से शरीर की अशुचिता का विचार करते हैं कि - जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं तथा जो रज-वीर्य आदि मलों से उत्पन्न होता है, वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ?

आस्रव और संवरभावना को भाते हुए सोचते हैं कि - हे आत्मन ! तू तत्त्वज्ञान के अभ्यास से आस्रव के कारणभूत विकथा और कषायों से रहित होकर, धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों से ममता त्याग दे तो तुझे व्रत, समिति, गुप्ति और तप आदि स्वतः हो जाएँगे। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से तेरे सम्पूर्ण संचित कर्म भी निर्जर जाएँगे और तू बन्धरहित होकर लोकान्त में विराजमान हो जाएगा।

इसीप्रकार निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म भावनाओं का चिन्तन-मनन करते हुए महाराज जीवन्धर का चित्त बोधिदुर्लभ एवं धर्मभावना में विशेष रम गया। वे सोचते हैं -

हे आत्मन ! रत्नत्रय धर्म और साधना के साधनभूत भव्यपना, मनुष्यपर्याय, सुन्दर स्वस्थ शरीर और अच्छे कुल में उत्पत्ति - इनमें एक-एक का पाना अति दुर्लभ है और तेरे पुण्योदय से तुझे पाँचों सुलभ हो गए हैं, फिर भी यदि धर्म में रुचि नहीं हुई तो सब व्यर्थ ही हैं। धर्मभावना में वीतराग धर्म के स्वरूप का चिन्तन करते हुए सोचते हैं कि - वस्तुतः तो वह निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, जिसमें ‘वस्तु स्वातन्त्र्य’ के सिद्धान्त के द्वारा कारण परमात्मा के रूप में भगवान आत्मा की अनन्त शक्तियों और अनन्तगुणों की स्वतन्त्र सत्ता का बोध कराया गया है तथा आत्मा का पर में एकत्व-ममत्व एवं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से भेदज्ञान कराया गया है। ऐसे धर्म के धारक और आराधक पशु भी अपनी पामर पर्याय छोड़कर स्वर्ग को प्राप्त करते हैं और जो ऐसे धर्म को नहीं जानते, ऐसे वीतराग धर्म की आराधना नहीं करते वे देवपर्याय से मरकर कुत्ते जैसी हीन पशु की पर्याय में चले जाते हैं। अतः हमें सदैव वीतराग धर्म की ही आराधना करना चाहिए।

इसप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तन करने से जीवन्धरकुमार के वैराग्य में और भी अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप वे भी गृहविरक्त होकर आत्मसाधना में तत्पर हो गए और कुछ काल बाद केवलज्ञान प्राप्तकर अजर-अमर सिद्धपद को प्राप्त हो गए। जो भी व्यक्ति इस ‘जीवन्धर-चरित्र’ का मन लगाकर अध्ययन-मनन-चिन्तन करेंगे, उनका लौकिक जीवन तो उज्वल होगा ही, पारलौकिक जीवन भी मंगलमय हो जाएगा। शुभमस्तु !



१९

सोलहवीं सदी में एक क्रान्तिकारी संत का उदय

भारतीय इतिहास में धार्मिक और सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव की दृष्टि से १६वीं सदी सबसे अधिक उथल-पुथल की सदी रही है। उसी समय शासकों के धार्मिक उन्माद भरे अत्याचारों से समस्त हिन्दू एवं जैन समाज अत्यधिक आक्रान्त और आतंकित हो रहा था। उसके साधना और आराधना के केन्द्र निर्दयतापूर्वक नष्ट-भ्रष्ट किये जा रहे थे। धर्मायतनों की सुरक्षा चिन्तनीय हो गयी थी।

जहाँ जैनों का प्रचुर पुरातत्त्व यत्र-तत्र बिखरा हुआ था, उस मध्य प्रान्त और बुन्देलखण्ड के सुरम्य क्षेत्रों में यवन शासकों का विशेष आतंक था। वहाँ की जैन समाज अपने धर्मायतनों की सुरक्षा के लिए विशेष चिन्तित थी। यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि क्यों न कुछ काल के लिए अपने आराध्य अवशेषों को सुरक्षित गुप्त गर्भ-गृहों में छुपा दिया जाये और उसके स्थानापन्न जिनवाणी का आलम्बन लेकर अध्ययन-मनन-चिन्तन द्वारा आत्मा-परमात्मा की आराधना-उपासना की जावे और अपने धर्म का पालन किया जावे।

विचार तो उत्तम थे; परन्तु इनका क्रियान्वयन किसी प्रतिभावान, प्रभावशाली व्यक्तित्व के बिना संभव नहीं था; क्योंकि अधिकांश जनता आत्मज्ञानशून्य केवल पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, दान-पुण्य आदि बाह्य क्रियाओं को ही धर्म माने बैठी थी। उसमें ही धर्म का स्वरूप देखने-समझनेवाले को यह बात समझाना आसान नहीं था कि ये धर्मायतन तो धर्मप्राप्ति के बाह्य साधन मात्र हैं, सच्चा धर्मायतन तो अपना आत्मा ही है और वह आत्मा अविनाशी तत्त्व है, उसे कोई ध्वस्त नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता।

एक ओर बाहरी उपद्रवों का संकट था और दूसरी ओर आन्तरिक अज्ञानता का हठ था। स्थिति तो विकट थी; परन्तु आवश्यकता को आविष्कार की जननी कहा जाता है-मानो इस उक्ति को सार्थक करते हुए ही तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति हेतु एक ऐसी प्रतिभा का उदय हुआ, जिसमें पुण्य और पवित्रता का मणि-कंचन योग तो था ही, साथ ही उसमें उद्दाम काम और क्रोधादि कषायों को जीतने की भी अद्भुत क्षमता थी तथा वाणी में भी ऐसा जादू था कि आन्तरिक अज्ञान और बाहरी उपद्रवों की दुहरी समस्या को सुलझाने में भी वह सफल रही। उस प्रतिभा का नाम था - “श्री जिन तारणतरणस्वामी।” जिन्हें संक्षेप में ‘तारणस्वामी’ भी कहा जाता है।

श्री तारण स्वामी ने तत्कालीन परिस्थितियों में आत्मोन्नति और धर्म के उत्थान के लिए जिनवाणी की आराधना के द्वारा तत्त्वज्ञान के अभ्यास पर विशेष बल दिया तथा जिनवाणी की उपासना को ही मुख्य रखकर शेष क्रिया-काण्ड को गौण किया। यह एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। इससे जहाँ एक ओर आन्तरिक अज्ञान हटा, वहीं दूसरी ओर क्रिया-काण्ड का आडम्बर भी कम हुआ तथा ध्वस्त अवशेषों पर आसू बहानेवाले भावुक भक्तों के हृदय को जीतने के लिए उन्होंने उनके आसू पोंछते हुए उनसे कहा कि सच्चा धर्मायतन तो तुम्हारा आत्मा स्वयं ही है, जिसे कोई कभी ध्वस्त नहीं कर सकता, तुम तो अपने चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की शरण में जाओ, वही निश्चय से सच्चा शरणभूत है, वह साक्षात् कारणपरमात्मा है, उसी के अवलम्बन से अबतक हुए सब अरहंत व सिद्धस्वरूप कार्यपरमात्मा बने हैं। कहा भी है -

“चिदानन्द चितवनं, येयनं आनंदं सहाव आनंदं।

कम्ममलं पयदि खिपनं, ममल सहावेन अन्योय संजुतं ॥

ज्ञान और आनंदमयी आत्मा का मनन करना चाहिए, क्योंकि इसी से आनन्द की या स्वाभाविक आत्मसुख की प्राप्ति होती है और इस आनन्द

सहित शुद्ध स्वभाव के अनुभव से ही कर्मकलंक की प्रकृतियाँ भी क्षय को प्राप्त हो जाती हैं।”^१ तथा -

ओं नमः विन्दते जोगी, सिद्धं भवत शास्वतम् ।

पण्डितो सोऽपि जानन्ते, देवपूजा विधीयते ॥

‘ओम्’ शब्द में पंचपरमेष्ठी गर्भित हैं। जो इन पंचपरमेष्ठी को अपनी आत्मा में ही अनुभव करते हैं, वे ही शाश्वत सिद्धपद को पाते हैं; क्योंकि ओम् ही ब्रह्म है, यही सच्चा धर्मायतन है, यही सच्ची देवपूजा है; अतः इसी की आराधना करो, इसको कौन ध्वस्त कर सकता है।^२

इसीप्रकार और भी अनेक स्थलों पर देव-शास्त्र-गुरु को बाहर में न देखकर अन्तर आत्मा में देखने की प्रेरणा देकर बाहर में हुए उपद्रव से चित्त हटाकर और अन्तर आत्मा का यथार्थ ज्ञान देकर आत्मज्ञान संबंधी अज्ञान हटाया है।

बस फिर क्या था, मानों डूबतों को तारणहार मिल गया और इधर तारणस्वामी के भी एकसाथ दो काम बन गये। एक ओर तो जो तत्त्वज्ञान से शून्य थे, केवल बाह्य क्रियाकाण्ड में ही अटके थे; उन्हें तत्त्वदृष्टि मिली तथा दूसरी ओर अपने परमपूज्य आराधना के केन्द्रस्थल वीतरागी जिनबिम्ब और जिनमन्दिरों के विध्वंस से जो आकुल-व्याकुल थे; उनकी व्याकुलता कम हुई, उनका मानस पलटा। इसप्रकार दुखसागर में निमग्न प्राणियों ने शांति की सांस ली।

लगता है उन्हें अपना तारणहार मानकर उनके अनुयायियों ने ही उनका यह “श्री जिन तारणतरणस्वामी” नाम प्रचलित किया, बाद में धीरे-धीरे उन्हें भी वह नाम स्वीकृत हो गया।

जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा भी है -

“जिनउवएसं सारं किंचित् उवएस कहिय सद्भावं ।

तं जिनतारण रहयं कम्मक्षयं मुक्ति कारणं सुद्धं ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान का जो उपदेश है, उसके कुछ अंश को लेकर ‘जिनतारण’ नाम से प्रसिद्ध मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है।”^३

उनके नाम में जो ‘श्री जिन’ विशेषण लगा है, वह निश्चय ही जिनेन्द्र भगवान के अर्थ में नहीं है, परन्तु जिनेन्द्र के भक्त के अर्थ में अवश्य है तथा दिगम्बर मुनि से वे एकदेश जितेन्द्रिय होने से जिनेन्द्र के लघुनन्दन तो थे ही तथा चौथे गुणस्थानवाले को भी जिनवाणी में ‘जिन’ संज्ञा से अभिहित किया गया है।

दिगम्बर आचार्य परम्परा के शुद्धाम्नायी संत मुनि श्री तारणस्वामी निःसंदेह एक महान क्रान्तिकारी युगपुरुष थे। वे बचपन से ही उदासीन वृत्तिवाले थे। कहा जाता है कि उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे यौवनारम्भ से ही शाश्वत शान्ति की खोज में सांसारिक सुखों के मोह का परित्याग करके विंध्य भूमि की ओर चले गये थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में वे मल्हारगढ़ (म.प्र.) के समीप बेतवा नदी के निकट पावन वनस्थली में आत्मसाधनारत रहे। वहीं पर उन्होंने १४ ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने ६० वर्ष की उम्र में दिगम्बरी मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। ६७ वर्ष की उम्र में वे दिवंगत हो गये थे।

आज उनके अनुयायी समैया या तारण समाज के नाम से जाने-पहचाने जाते हैं। तारण समाज का परिचय देते हुए ब्रह्मचारी स्वर्गीय श्री शीतलप्रसादजी ने लिखा है कि - “ये चैत्यालय के नाम से सरस्वती भवन बनाते हैं। वेदी पर शास्त्र विराजमान करते हैं। यद्यपि इनके यहाँ जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा रखने व पूजन करने का रिवाज नहीं है; तथापि ये लोग तीर्थयात्रा करते हैं, मन्दिरों में यत्र-तत्र प्रतिमाओं के दर्शन भी करते हैं।”^४

१. ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक ९०६

२. तारणतरण श्रावकाचार भूमिका, पृष्ठ ४

पूज्य तारणस्वामी के ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट भासित होता है कि उन पर कुन्दकुन्द स्वामी का काफी प्रभाव था। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। योगीन्दुदेव के परमात्मप्रकाश व योगसार भी उनके अध्ययन के अभिन्न अंग रहे होंगे। निश्चय ही तारणस्वामी कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के ज्ञाता थे। उन्होंने यत्र-तत्र विहार करके अपने अध्यात्मगर्भित उपदेश से जैनधर्म का प्रचार किया।

श्री तारणस्वामी के विषय में यह एक किंवदन्ती प्रचलित है कि उनके उपदेश से पूरी “हाट” अर्थात् हजारों जैनाजैन जनता उनकी अनुयायी बन गयी थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वे स्वयं तो परवार जातीय दिगम्बर जैन थे और उनके अनुयायी तारण समाज में आज भी अनेक जातियों के विभिन्न गोत्रों के लोग सम्मिलित हैं।

कहा भी जाता है कि उनके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच लाख तिरेपन हजार तीन सौ उन्नीस (५, ५३, ३१९) व्यक्तियों ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया था। उनके निम्नांकित प्रमुख शिष्यों में विभिन्न वर्ग और जातियों के नाम हैं, जैसे – लक्ष्मण पाण्डे, चिदानन्द चौधरी, परमानन्द विलासी, सत्यासाह तैली, लुकमान शाह मुसलमान।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तारणस्वामी जाति, धर्म एवं ऊँच-नीच वर्ग के भेद-भाव से दूर उदार हृदय वाले संतपुरुष थे तथा वे रुढ़िवादी परम्परा और पाखण्डवाद पर जीवन भर चोट करते रहे। देखिए उन्हीं के शब्दों में – “जाइकुलं नहु पिच्छदि शुद्ध सम्मत्त दर्शनं पिच्छई।

जाति और कुल से नहीं, बल्कि शुद्ध सम्यग्दर्शन से ही पवित्रता और बड़प्पन आता है।”^१

आपके ग्रन्थों में अलंकारों की दृष्टि से रूपकों की बहुलता है –

१. उपदेश शुद्धसार, गाथा १५३

“स्नानं च शुद्ध जलं” – यहाँ शुद्ध आत्मा को ही शुद्ध जल मानकर यह कहा गया है कि जो शुद्ध आत्मा में लय हो जाता है, वही सच्चे जल में स्नान करता है।^१ तथा –

“ध्यानस्य जलं शुद्धं ज्ञानं स्नानं पण्डिता” – अर्थात् पण्डित जन आत्मज्ञानरूप शुद्ध जल से ध्यान का स्नान करते हैं।^२ तथा –

“ज्ञानं मयं शुद्धं, स्नानं ज्ञानं पण्डिता” – अर्थात् ज्ञानमयी शुद्ध जल में ही पण्डित जन स्नान करते हैं।^३

स्व. डॉ. हीरालाल जैन ने सन्त तारणस्वामी की रचना, शैली एवं भाषा और विषयवस्तु पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है।

वे लिखते हैं – “इन ग्रन्थों की भावभंगी बहुत कुछ अटपटी है। जैनधर्म के मूल सिद्धान्त और अध्यात्मवाद के प्रधान तत्त्व तो इसमें स्पष्ट झलकते हैं। परन्तु ग्रन्थकर्ता की रचना शैली किसी एक सांचे में ढली और एक धारा में सीमित नहीं है।...विचारों का उद्रेक जिसप्रकार जिस ओर चला गया, तब वैसा ग्रथित करके रख दिया तथा इस कार्य में उन्होंने जिस भाषा का अवलम्बन लिया है, वह तो बिल्कुल निजी है।...न वह संस्कृत है, न कोई प्राकृतिक अपभ्रंश और न कोई देशी प्रचलित भाषा है। मेरी समझ में तो उसे ‘तारनतरन भाषा’ ही कहना ठीक होगा। जो गहन व मनोहर भाव उनमें भरे हैं, उनका उक्त अटपटी शैली के कारण पूरा लाभ उठाया जाना कठिन है।”^४

स्वर्गीय पं. परमेष्ठीदासजी का भी इस संबंध में यही मत है –

“जिन्होंने अपनी निराली भाषा शैली में उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण किया। उन श्री तारण स्वामी द्वारा रचित सूत्रों और गाथाओं का यथार्थ अर्थ समझ पाना कठिन काम है, क्योंकि उनकी भाषा-शैली

१. पण्डित पूजा, गाथा ८ का अंश

२. वही, गाथा ९ का अंश

३. वही, गाथा १० का अंश

४. तारणतरण श्रावकाचार भूमिका, पृष्ठ ४ (सन् १९४०)

अलग प्रकार की है। वर्तमान युग में आध्यात्मिक महापुरुषों में श्री कानजी स्वामी का नाम प्रमुख है, उन्होंने श्री तारणस्वामी के अध्यात्म ज्ञान की महिमा गायी है और उनकी अध्यात्म वाणी पर प्रवचन भी किये हैं, जो अष्टप्रवचन के नाम से दो भागों में प्रकाशित भी हो चुके हैं।^१

जो तारण जयन्ती के अवसर पर डॉ. भारिल्ल द्वारा सागर में जो प्रवचन हुए थे, श्रीमन्त सेठ भगवानदासजी की भावना के अनुसार उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री डालचन्द जैन ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया और उस पुस्तक का सम्पादन करने और उसकी प्रस्तावना लिखने के लिए मुझे अनुरोध किया। मुझे प्रसन्नता है कि इस निमित्त से मुझे श्री जिन तारणस्वामी को भी निकट से समझने का अवसर मिला।

ज्ञानसमुच्चयसार की कतिपय महत्त्वपूर्ण गाथाओं पर हुए डॉ. भारिल्ल के प्रवचनों को पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि अहो ! ऐसी महान आध्यात्मिक गूढ़तम गाथाएँ, जिन्हें जनसाधारण के द्वारा समझ पाना सचमुच अत्यन्त कठिन कार्य था, परन्तु परवर्ती विद्वानों द्वारा उनका हिन्दी भाषान्तरण हो चुका है। स्व. ब्र. शीतलप्रसादजी का इस कार्य में सर्वाधिक योगदान रहा है।

वह स्तुत्य है; परन्तु वह बहुत संक्षिप्त सारांश या भावार्थ के रूप में ही है।

श्रीमन्त सेठ डालचन्दजी ने डॉ. भारिल्ल द्वारा श्री तारणतरण स्वामी के साहित्य पर किए गए प्रवचनों को प्रकाशित कर स्वामीजी के साहित्य को प्रचारित करने का जो अभिनव प्रयोग किया है, यह निश्चय ही अभिनन्दनीय है। यदि इसी दिशा में और भी उसे जन-जन के पठन-पाठन का विषय बनाया जा सके तो अति उत्तम होगा।



१. ज्ञानसमुच्चयसार की भूमिका

बीसवीं सदी का सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व

यह तो सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि इस युग में श्री कानजी स्वामी ने कुन्दकुन्द वाणी का स्वाध्याय तो सर्वाधिक किया ही, प्रचार-प्रसार भी उनके माध्यम से ही सर्वाधिक हुआ है। उनकी प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रेरणा से अल्प मूल्य में लाखों की संख्या में वीतरागी सत्साहित्य का प्रकाशन हुआ है, हो रहा है और निरन्तर घर-घर में पहुँच रहा है।

कुन्दकुन्द वाणी उनके रोम-रोम में समा गई थी। उन्होंने लगातार ४५ वर्ष तक प्रतिदिन दिन में दो बार मुख्यरूप से कुन्दकुन्द वाणी पर ही प्रवचन किए। कुन्दकुन्द साहित्य को सर्वसाधारण की विषयवस्तु बनानेवाले श्री कानजी स्वामी इस सदी के सर्वाधिक चर्चित-व्यक्तित्व रहे हैं। उनके निमित्त से आचार्य कुन्दकुन्ददेव को जितना अधिक पढ़ा-सुना गया, उतना इसके पूर्व उन्हें शायद ही कभी पढ़ा-सुना गया हो ?

आध्यात्मिक क्रान्ति के सूत्रधार श्री स्वामीजी इस सदी के युगपुरुष थे। जो व्यक्ति उस व्यक्तित्व के विचारों से, चिन्तन से और तत्त्वप्रतिपादन की शैली से सहमत थे, जिन्हें उनके विचार आगम-सम्मत और युक्तिसंगत लगे थे, जो उनके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से परिचित और प्रभावित थे; वे तो उन पर पूरी तरह समर्पित थे ही; पर जो अपने पूर्वाग्रहों और पंथव्यामोह के कारण उनके विचारों से पूरी तरह सहमत नहीं हो पाये थे, वे भी उनकी सादगी, सरलता, सज्जनता, उदारता और धार्मिक भावनाओं के प्रशंसक थे।

जो पुरुष युग को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है, उसे ही तो युगपुरुष कहते हैं और उनके व्यक्तित्व में यह विशेषता थी। उनके व्यक्तित्व

व कर्तृत्व की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि संख्यात्मक और गुणात्मक – दोनों दृष्टियों से उन्होंने अध्यात्म के क्षेत्र में सर्वाधिक व्यक्तियों को लाभान्वित किया है। पाँच लाख मुमुक्षुओं में आधे से अधिक ऐसे हैं, जिन्होंने उनसे प्रत्यक्ष लाभ लिया है। अतः उनका उनके प्रति कृतज्ञ होना स्वाभाविक ही है।

न केवल अध्यात्म का बल्कि करणानुयोग का भी उन्हें अच्छा अभ्यास था। उनके प्रवचनों से उनके चारों अनुयोगों के अगाध ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आज लाखों की संख्या में उनके प्रवचन-कैसेट मुमुक्षुओं के घरों में उपलब्ध हैं। प्रवचनरत्नाकर के नाम से पहले गुजराती भाषा में समयसार परमागम पर उनके प्रवचन पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए। गुजराती भाषा से हिन्दी भाषा में रूपान्तरित करने का सौभाग्य मुझे मिला। मैंने उनके गुजराती प्रवचनों का हिन्दी में लगभग छह हजार पृष्ठों में अनुवाद किया है।

धर्मप्रचार संबंधी योजनाओं में स्वामीजी की मौन स्वीकृति व हार्दिक समर्थन सदैव रहता था। उनकी इस नीति से सोनगढ़ की यह अध्यात्म वाटिका धीरे-धीरे फूलने-फलने लगी और भारत के कोने-कोने में इसकी सुगन्ध फैलने लगी।

हर्ष का विषय है कि स्वामीजी के सान्निध्य में आने से स्वाध्याय की प्रवृत्ति तो बड़ी ही, शिक्षण-शिविरों के माध्यम से उनके समय में सोनगढ़ से शताधिक ऐसे तत्त्वमर्मज्ञ प्रवचनकार विद्वान तैयार हुए; जिनके द्वारा तत्त्वप्रचार-प्रसार को गति मिली। स्वामीजी के प्रवचनों से ही प्रेरणा पाकर जयपुर में भी पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की एवं उसी के अन्तर्गत श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना हुई, जिसकी दिन-दूनी, रात-चौगुनी हो रही प्रगति से सारा समाज सुपरिचित है। इस सम्पूर्ण आध्यात्मिक क्रान्ति का मूल श्रेय एकमात्र स्वामीजी को ही है।

स्वामीजी के सम्बन्ध में मुनियों ने तथा विद्वान्, श्रीमन्तों, सामाजिक राष्ट्रीय नेताओं ने उनके प्रति जो मार्मिक उद्गार व्यक्त किए हैं। उनमें से यहाँ कतिपय मनीषियों के हार्दिक उद्गार उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत हैं –

एक बार कुछ व्यक्ति आचार्यश्री शान्तिसागरजी के पास जाकर बोले – “महाराज! समाज में कानजी स्वामी के ‘आत्मधर्म’ ने गजब मचाया है। उनकी समयसार की एकान्तिक प्ररूपणा से बड़ी गड़बड़ी होगी, इसलिए आप आदेश निकालें व उनकी प्ररूपणा धर्मबाह्य है, ऐसा जाहिर करें।”

उक्त कथन सुनकर आचार्यश्री ने कहा – “अगर मेरे सामने प्रवचन के लिए समयसार रखा जाएगा तो मैं भी क्या, और कोई भी क्या, वही तो मुझे भी कहना पड़ेगा। पुण्यपाप को हेय ही बताना होगा, यही समयसार की विशेषता है, उनका निषेध करने से क्या होगा? कानजी का निषेध करके क्या कुन्दकुन्द का निषेध करना है?”^१

मुनि सिद्धसागर महाराज ने इस प्रकार कहा – “इस युग में श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द के आगम का अत्यधिक प्रचार व प्रसार किया है। गुजरात में जहाँ एक भी दिगम्बर जैन नहीं था वहाँ आज उनके प्रभाव से लाखों दिगम्बर जैन हो गये हैं। स्वामीजी की प्रेरणा से अनेक गगनचुम्बी दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है तथा लाखों की संख्या में वीतरागी सत्साहित्य का प्रकाशन किया जा चुका है। श्री कानजी स्वामी द्वारा अभूतपूर्व धर्म-प्रभावना हो रही है।”^२

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के निर्माता प्रशान्तमूर्ति तत्त्वसिक क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रजी वर्णी के श्री कानजी स्वामी के प्रति उद्गार पढ़िये :-

१. चारित्रचक्रवर्ती आ. श्री शान्तिसागर अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ १५७

२. आत्मधर्म, फरवरी १९७७, पृष्ठ ३२

“काठियावाड़ देशस्थ सोनगढ़ ग्राम के सुप्रसिद्ध अध्यात्म-योगी कानजी स्वामी के उस महत् उपकार को कदापि नहीं भुला सकते- जो कि उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा भौतिक युग की अन्धकारमय जगती पर विलुप्तप्रायः हो जाने वाली अध्यात्म-धारा को पुनः नवजीवन प्रदान किया है।^१”

क्षुल्लक श्री चिदानन्दजी महाराज ने लिखा है - “जब मैं सोनगढ़ पहुँचा और चार मास के स्थान पर चौदह मास वहाँ रहा, वहाँ मैंने स्वामीजी की धर्मदेशना श्रवण की और वहाँ का अपूर्व शान्त वातावरण देखा तो जो आनन्द आया उसको मैं प्रगट करने में असमर्थ हूँ। यही कारण है कि जो वहाँ का वातावरण एक बार अवलोकन कर लेता है वह दूसरे वक्त जाये बिना नहीं रह सकता।...

जब स्वामीजी से निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्त्ता-कर्म, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में सुना व चौदह माह की अवधि में जो अनुभव किया तो जीवन की दिशा ही बदल गई। जिनेन्द्र-पूजन, भक्ति दान, स्वाध्याय आदि की प्रवृत्ति भी उनमें ही देखी जाती है। और यह सब स्वामीजी के निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक उपदेश करने की शैली का प्रतीक हैं।^२”

क्षुल्लक श्री सुरतनसागरजी लिखते हैं :- “स्वामीजी ने जो जैनधर्म का प्रकाश किया वह किसी ने नहीं किया। जब समाज अज्ञान-अंधकार में डूबा हुआ था, क्रियाकाण्ड में धर्म मान रहा था, प्रवचनों में क्रिया-काण्ड-कथा-कहानी ही चलते थे; स्वामीजी ने जैनतत्त्व का उद्घाटन किया, आत्मा के धर्म के वास्तविक स्वरूप को बताया। उनका यह उपकार कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

१. सन्मति संदेश, वर्ष ७, अंक ५, पृष्ठ २७

१. सन्मति संदेश, वर्ष ७, अंक ५, पृष्ठ ४९

स्व. पण्डित श्री चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर ने लिखा है :- “इसमें कोई शक नहीं कि कानजी स्वामी के उदय से अनेक अंशों में क्रान्ति उत्पन्न हुई है। पुराना पोपडम खत्म हो रहा है और लोगों को नई दिशा मिल रही है। यह मानना गलत है कि वे एकान्त निश्चय के पोषक हैं। हम सोनगढ़ में एवं सर्वत्र फैले हुए उनके अनुयायियों में निश्चय तथा व्यवहार का सन्तुलन देख रहे हैं। सौराष्ट्र में अनेकों नवीन मन्दिरों का निर्माण स्पष्ट बतलाते हैं कि वे व्यवहार का अपलाप नहीं करते। ये भगवान् कुन्दकुन्द के सच्चे अनुयायी हैं। जो उनकी आलोचना करते हैं वे आपे में नहीं हैं व उन्होंने न निश्चय को समझा है न व्यवहार को और सच तो यह है कि उन्होंने जैन शास्त्रों का हार्द ही नहीं समझा।

पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी ने लिखा है :- “जब से श्री कानजी स्वामी ने भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों का परिशीलन कर जैन धर्म का यथार्थ मर्म समझा और अपने अनुयायी हजारों भाई-बहिनों को समझाया तब से दि. जैन समाज की प्रगति में एक नया मोड़ आया है।^१ स्वामीजी ने अपने जीवन में वह कार्य किया है जो आज सहस्रों वर्षों से जैन साधकों द्वारा सम्पन्न नहीं हो सका।..... सौराष्ट्र में २० दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण, उनकी पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाएँ, समस्त दिगम्बर जैन तीर्थों की सहस्रों व्यक्तियों के संघ सहित वन्दना लाखों रुपया दि. तीर्थरक्षा में चन्दा देना तथा उसकी पूर्ति का संकल्प - ये सब उनकी कट्टर दिगम्बरता के दृढ़तम प्रमाण हैं।

उनके अनुयायी अधिकांश व्यक्ति रात्रि भोजन नहीं करते, कन्दमूल भक्षण नहीं करते, द्विदल नहीं खाते, व्रतरूप प्रतिज्ञाबद्ध न होते हुए इन श्रावकीय नियमों का पालन करते हैं; जबकि पुराने दिगम्बरों में यह परम्परा टूटती जा रही है। मेरी स्वयं की दृष्टि में यह निर्णय है कि स्वामीजी का तत्त्वज्ञान यथार्थ है^२.....।

१. आगमपथ, मई १९७६, पृष्ठ ५२

२. आगमपथ, मई १९७६, पृष्ठ ५२

हमने स्वामीजी को नजदीक से देखा है, परखा है और उनके प्रवचनों को तथा अनुभवों को सुना है। हमें विश्वास है कि वे दिगम्बर जिनागम के कट्टर श्रद्धालु हैं।स्वामीजी प्रतिज्ञारूप प्रतिमा आदि नहीं पालते तथापि उनके आचरण खान-पान आदि किसी प्रतिमाधारी से कम नहीं हैं। उत्तम आचरण, मर्यादित खानपान, आजीवन ब्रह्मचर्य, मन्दकषाय आदि उनके गुण उनमें और उनके शिष्यों में पाये जाते हैं।^१”

भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् के मन्त्री श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर ने लिखा है - “श्री कानजी स्वामी युग पुरुष हैं, उन्होंने दिगम्बर जैन धर्म के प्रभाव का महान् कार्य किया है। उनके इस जीवन-निर्माण में समयसार का अद्भुत प्रभाव है। इसमें निबद्ध कुन्दकुन्द स्वामी की विशुद्ध अध्यात्म देशना ने अगणित प्राणियों का उपकार किया है।

उनके इस कार्य से सौराष्ट्र प्रान्त ही जागृत हुआ हो सो बात नहीं, भारतवर्ष के समस्त प्रदेश जागृत हुए हैं और स्वाध्याय के प्रति निष्ठा का भाव उत्पन्न कर आत्मकल्याण की ओर लग रहे हैं।^२”

डॉ. दरबारीलालजी कोठिया अध्यक्ष, अखिल भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने लिखा है - “श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर समाज में तत्त्वज्ञान की दिशा में निश्चय ही जागरण किया है। समयसार एक ऐसा ग्रन्थरत्न है, जिसकी ओर आत्मगवेषी मुमुक्षु का ध्यान जाना स्वाभाविक है। स्वामीजी इस समयसार से प्रभावित होकर दिगम्बर परम्परा में आये और उन्होंने समयसार के अध्ययन, मनन व चिन्तन और सतत् स्वाध्याय पर बल दिया^३।”

१. कानजी स्वामी अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ८

२. सन्मति सन्देश, वर्ष ७, अंक ५, पृष्ठ ३

३. आगमपथ, मई १९७६

सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक विद्वान् पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी के शब्दों में :- “कोई कुछ भी क्यों न कहे, मैं तो कहता हूँ कि वर्तमान में श्री कानजी स्वामी का उदय दिगम्बर परम्परा के लिए अभ्युदयरूप है। जिसके जीवन में दिगम्बर परम्परा का माहात्म्य समाया हुआ है वह श्री कानजी स्वामी और समग्र सौराष्ट्र को आदर की दृष्टि से देखे बिना नहीं रह सकता।^१”

समाज के मूर्धन्य विद्वान् पंडित कैलाशचन्द्रजी, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी लिखते हैं :-

“आज से पचास वर्ष पूर्व कुन्दकुन्द का नाम मात्र तो लिया जाता था, किन्तु समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरल थे। व्यवहार को ही यथार्थ धर्म और पुण्य को ही मोक्षमार्ग कहा जाता था।

उन्होंने अपनी शैली के विद्वान् प्रवक्ता तैयार किये। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का सुन्दर और सस्ता प्रकाशन किया। वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ खोलीं, परीक्षालय चलाया। शिक्षण-शिविर की प्रणाली चलाई।

समाज के सर्वमान्य नेता साहू शान्तिप्रसादजी जैन ने निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किये हैं :- “स्वामीजी ने वीतराग धर्म का प्रचार-प्रसार करके जैन धर्म व समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्रधर्म की पुनर्स्थापना में उनका बहुमूल्य स्थान रहा है, जिसका जैन समाज सदैव ऋणी रहेगा।^२”

भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई के अध्यक्ष सेठ लालचन्द्र हीराचन्द लिखते हैं :- “संत श्री कानजी स्वामी ने जैन समाज में नई जागृति और नव चैतन्य का निर्माण किया है। समाज में फैली हुई अनुचित रूढ़ियों और अन्य प्रकार विशेषता मिथ्या तत्त्वज्ञान के बारे में आपका

१. खानिया तत्त्वचर्चा, भाग-१, पृष्ठ १९

२. आगमपथ, मई १९७६

प्रचार बहुत ही प्रभावशील हो रहा है। स्वामीजी जो समाज को मार्गदर्शन कर रहे हैं, उसके लिये उनका अभिनन्दन है। आशा है समाज को उनका बहुत दिनों तक नेतृत्व मिलेगा।^१”

प्रसिद्ध उद्योगपति साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन लिखते हैं :- “आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जिस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया व मुक्ति के मार्ग का मर्म समझाया, उस मार्ग को वर्तमान युग में स्वधर्मी भूले हुए थे व अंधकार में भटक रहे थे। अब दो हजार वर्ष बाद पूज्य स्वामीजी ने उसी मोक्षमार्ग का अनुसरण कर हमें मुक्ति का मार्ग दर्शाया है, जिसके लिये समस्त दिगम्बर जैन समाज ऐसे महान् संत का सदैव ऋणी रहेगा।^२”

श्री अक्षयकुमार जैन, सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली लिखते हैं :- “गुरुदेव ने वीतराग धर्म का शुद्ध स्वरूप बताकर समाज का बड़ा उपकार किया है। समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा।^३”

श्री यशपाल जैन, सम्पादक, जीवन साहित्य, दिल्ली लिखते हैं :- “संत कानजी स्वामी हमारे देश की महान् विभूतियों में से हैं। उन्होंने जैन धर्म और जैनदर्शन की जो सेवा की है वह सर्व विदित हैं।^४”

डॉ. नेमीचंद जैन, सम्पादक, तीर्थङ्कर, लिखते हैं :-

“सन्त श्री कानजी स्वामी के स्वाध्याय के क्षेत्र में बहुमूल्य प्रदेय हैं। उन्होंने लाखों-लाखों लोगों को, जो जैन दर्शन का ‘क, ख, ग’ भी जानते थे, पण्डित बनाया है। उन्हें सिर्फ किताबी ही नहीं वरन् जीवन मोक्षमार्गी बनाने में उनका बहुत बड़ा योग है। मेरे हृदय में उनके ज्ञान के प्रति अपरम्पार श्रद्धा है। एक ज्ञानमूर्ति की तरह वे अत्यन्त पूज्य हैं।^५”

१. आगमपथ, मई १९७६, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ १४

४. वही, पृष्ठ ३५

३. वही, पृष्ठ १८

५. वही, पृष्ठ ३९

डॉ. राजकुमारजी साहित्याचार्य, आगरा (उ.प्र.) लिखते हैं :- इस युग में अध्यात्म एवं जैन तत्त्वविद्या के स्पष्ट एवं दर्पणवत् विशद् तथा शृंखलाबद्ध विवेचन एवं विश्लेषण करनेवालों में असंदिग्ध रूप से श्री कानजी स्वामी का स्थान सर्वोपरि था।

डॉ. भागचन्द्रजी जैन ‘भास्कर’ अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय नागपुर (म.प्र.) लिखते हैं :- “पूज्य कानजी स्वामी वस्तुतः आध्यात्मिक आलोक से आलोकित एक असामान्य क्रान्तिकारी संत थे, विश्व मानव थे, आत्मनिष्ठ, चिंतनशील व आत्मानुभूति के रस से सिक्त मनीषी तत्त्वज्ञानी थे, परमात्मानुभूति और समता में रंगे दिव्य इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व के धनी थे। उनका जीवन उदात्त आदर्शों का प्रतीक था, ऋजुता को संजोये था, आत्मलोचन और आत्मनिरीक्षण से मण्डित था।

प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाशजी फिरोजाबाद लिखते हैं :- “जैन समाज के सर्वाधिक चर्चनीय व्यक्तियों में से एक थे स्व. श्री कानजी स्वामी। लगभग आधी शताब्दी तक उनके व्यक्तित्व की सर्वत्र धूम मची रही। वह जैनागम के अनन्य एवं उत्साही प्रेमी थे। उनकी विचारधारा से मतभेद रखते हुए भी उनके जिनवाणी प्रेम पर उंगली उठाना किसी भी तरह न्यायसंगत नहीं होगा। आज समाज में स्वाध्याय के प्रति जो अद्भुत लगाव देखने में आ रहा है, उसका श्रेय स्वामीजी को ही है। जैन साहित्य के व्यापक प्रसार एवं शिक्षण-शिविरों की प्रेरणा मूलरूप में उन्हीं से प्राप्त हुई है।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि पूज्य श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर जैन समाज के समकालीन सभी व्यक्तियों को प्रभावित किया था वर्तमान जनमानस पर तो उनके प्रखर व्यक्तित्व की छाप है ही, अपने कर्तृत्व से भावी पीढ़ियों को भी वे युगों तक प्रभावित करते रहेंगे।

२१

जैन अध्यात्म के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवि : बनारसीदास

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवि तुलसीदास, सूरदास, केशवदास एवं कबीरदास की भाँति ही जैन अध्यात्म के सर्वश्रेष्ठ कवि बनारसीदास का भी हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्या भावपक्ष और क्या कलापक्ष - दोनों ही दृष्टियों से बनारसीदास की रचनाएँ श्रेष्ठ हैं। उनके ग्रन्थ समयसार नाटक, बनारसीविलास एवं अर्द्धकथानक के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि भाषा-शैली पर तो उनका विशेषाधिकार था ही; विषयवस्तु, लोकमंगल की भावना और रसानुभूति की दृष्टि से भी आपकी रचनाएँ पूर्ण साहित्यिक हैं।

जैन अध्यात्म के सरलतम प्रस्तुतीकरण में कविवर बनारसीदास की काव्यकला सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुई है एवं व्यावहारिक लोकजीवन में भी उनकी रचनाएँ धार्मिक अंधविश्वासों से मुक्त करानेवाली एवं जनमानस की आन्तरिक भावनाओं को उद्बोधित करानेवाली मंगलमय हैं। उनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में सहज ही उदात्त भावनाएँ उद्वेलित होने लगती हैं। इसप्रकार बनारसीदास के साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की त्रिवेणी का सहज संगम हो गया है।

वस्तुतः बनारसीदास कबीर की शैली के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनका अधिकांश साहित्य कबीर की भाँति रूढ़ियों पर करारी चोटें करनेवाला विशुद्ध आध्यात्मिक, मानवधर्म पर आधारित एवं चिन्तन को नई दिशा देनेवाला है। उदाहरणार्थ यहाँ उनके नव्य चिन्तन के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं। चार पुरुषार्थों के संदर्भ में कवि ने जो प्रचलित परिभाषाओं से हटकर नया चिन्तन दिया है, वह वजनदार और यथार्थ के निकट है।

धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष पुरुषार्थ को नये ढंग से परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं -

कुल कौ अचार ताहि मूरख धरम कहै,
पण्डित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौ।
खेह^१ को खजानौ ताहि अग्यानी अरथ^२ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौ ॥
दम्पति कौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित्तचाउ कौ।
इन्द्र-लोक थान कौ अजान लोग कहै मोख,
सुधी मोख कहै एक बंध के अभाउ कौ ॥^३

कवि ने उपर्युक्त पद्य में लोकप्रचलित चार पुरुषार्थों की परम्परित व्याख्या के विरुद्ध मोक्षमार्ग में साधनभूत युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत की है। इसीप्रकार सप्तव्यसन के संबंध में उनका मौलिक चिन्तन द्रष्टव्य है -

अशुभ में हारि शुभ में जीति यहै दूत कर्म,^४
देह की मगनताई यहै मांसभखिवौ।
मोह की गहल सौं अजान यहै सुरापान,
कुमति की रीति गनिका कौ रस चखिवौ ॥
निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारीसंग परबुद्धि कौ परखिवौ।
प्यार सौं पराई सौंज गहिवे को चाह चोरी,
ई सातौं विसन बिडारैं ब्रह्म लखिवौ ॥^५

उपर्युक्त पद्य में उन्होंने सात व्यसनों की जो क्रान्तिकारी सशक्त व्याख्या प्रस्तुत की है, वह भी अपने आप में अद्भुत है। उनका कहना है कि -

१. धूल-मिट्टी रूप धन

२. पदार्थ

३. समयसार नाटक, बन्ध द्वार, छन्द १४

४. जुआ नामक व्यसन

५. समयसार नाटक, साध्य-साधक द्वार, छन्द २९

लोक प्रचलित “जुआ खेलना-मांस-मद-वैश्याव्यसन-शिकार-परमणी-रमण” रूप सात प्रकार के द्रव्य व्यसनों का त्याग कर देने पर भी यदि अशुभोदय में हार एवं शुभोदय में जीत का अनुभव करके क्रमशः शोक व हर्ष मानता रहा, उनमें दुःख-सुख का वेदन करता रहा तो वह यथार्थतया जुआ का त्यागी नहीं है, क्योंकि जुए के फल में भी तो जीव को हर्ष-विषाद ही होता है, यह उनसे मुक्त कहाँ हो पाया है ? इसीप्रकार मांस खाने का सर्वथा त्याग करने पर भी यदि गोरे-भूरे मांसल देह में मगन रहा तो वह सच्चा मांस का त्यागी भी नहीं है। इसीतरह मोह-ममता में मगन रहकर अपने आत्मा से अजान रहना एक तरह से सुरापान ही है। कविवर दौलतरामजी ने मोह को ही मदपान करना कहा है -

मोह महामद पिया अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥^१

देखो, लौकिक सप्तव्यसनों का सेवन सज्जन तो करते ही नहीं हैं, सामान्यजन भी लोकनिन्दा के भय से, आर्थिक अभाव से एवं स्वास्थ्य बिगड़ने के भय से नहीं करते। जो करते भी हैं, वे भी उसे अच्छा नहीं मानते; किन्तु कवि द्वारा प्रतिपादित भावों से सम्बन्ध रखनेवाले ये उपर्युक्त भाव सप्तव्यसन तो सभी के द्वारा सेवन किए जा रहे हैं; क्योंकि ये भावव्यसन तो तत्त्व से अपरिचित जनों को व्यसन से ही नहीं लगते। जो कि आध्यात्मिक उन्नति में बहुत बड़े बाधक हैं। अतः यहाँ कवि द्वारा इन व्यसनों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। निश्चय ही हमारे लिए उनकी यह मौलिक देन है।

केवल बाह्य क्रियाकाण्ड को मानकर उसमें ही मगन हुए लोगों को सावधान करते हुए कवि कहते हैं -

बहुविध क्रिया कलेस सौं, सिवपद लहै न कोइ।

ज्ञानकला परगास सौं, सहज मोखपद होई ॥^२

१. छहढाला, प्रथम ढाल, छन्द ३

२. समयसार नाटक, निर्जरा द्वार, छन्द २६

तथा पर परमात्मा की खोज में भटकते हुए भक्तों का अपने ही भीतर बैठे परमात्मा की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए वे लिखते हैं -

केई उदास रहै प्रभु कारन, केई कहै उठि जांहि कहीं कै।

केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति, केई पहार चढ़ैं चढ़ि छीकैं ॥

केई कहैं असमान के ऊपरि, केई कहै प्रभु हैठि जमीं कै।

मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मोहि मैं है मोहि सूझत नीकै ॥^१

कविवर बनारसीदास कबीर की भांति रहस्यवादी भी हैं, उनकी अधिकांश रचनायें अध्यात्म से ओतप्रोत हैं और अध्यात्म की उत्कर्ष सीमा का नाम ही तो रहस्यवाद है, इस दृष्टि से बनारसीदास को रहस्यवादी कवि मानने में जरा भी हिचक नहीं होनी चाहिए।

डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में - “रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता ॥”^२

रहस्यवाद की इस कसौटी पर कवि बनारसीदासजी खरे उतरते हैं। उनके अध्यात्म गीतों में रहस्यवाद की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है।

मैं बिरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जलबिन मीन ॥

बाहर देखूँ तो पिय दूर। घट देखूँ घट में भरपूर ॥

घट महि गुप्त रहे निराधार। वचन-अगोचर मन के पार ॥

अलख अमूरति वर्णन कोय। कबधौं पिय के दर्शन होय ॥^३

विरह में व्याकुल सुमतिरूप नायिका को जब अनुभव होने लगा कि आत्मा रूप नायक उससे भिन्न नहीं है, वह तो उसी के घट में बसता है, तब वह कहती है कि -

पिय मोरे घट मैं पिय माहि। जलतरंग ज्यों दुविधा नांहि ॥

पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानो मैं ज्ञान विभूति ॥

१. समयसार नाटक, बंध द्वार, छन्द ४८

२. कबीर का रहस्यवाद, १९७२, पृष्ठ ३४

३. बनारसीविलास, पृष्ठ १५९

पिय सुख-सागर मैं सुख-नींव । पिय शिवमन्दिर मैं
 ि श व न िं व । ।
 पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम । पिय माघव मो कमला नाम ॥
 पिय शंकर मैं देवि भवानि । पिय जिनवर मैं केवलि बानि ॥^१

कविवर बनारसीदास को जो साम्प्रदायिकता व संकीर्णता की चक्की के पाटों के बीच पीसने का प्रयास किया गया है, वह उनके साथ न्याय नहीं हुआ है। वस्तुतः बनारसीदास का दृष्टिकोण एकदम असाम्प्रदायिक है। यदि वे साम्प्रदायिकता के किले में कैद हो जाते तो उनके द्वारा अध्यात्म का ऐसा यथार्थ उद्घाटन नहीं हो सकता था, जैसा उन्होंने समयसार नाटक आदि में किया है।

उन्होंने स्वयं तो प्रत्येक धर्म की वास्तविकता को टटोलने की कोशिश की ही है, दूसरों को भी साम्प्रदायिकता के दृष्टिकोण से ऊपर उठकर उदारता से सोचने की दिशा दी है। उन्होंने स्वयं अपने को पारम्परिक पितृकुल के श्वेताम्बर सम्प्रदाय को त्याग कर यह सिद्ध कर दिया कि वे किसी कुल विशेष में पैदा हो जाने मात्र से किसी को उस धर्म का अनुयायी नहीं मानते थे, बल्कि यदि उसमें धार्मिक गुणों का विकास हुआ है तो ही वह धार्मिक है। इस दृष्टि से सभी वर्णों एवं धर्मानुयायियों पर की गई उनकी टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं -

ब्राह्मण : जो निश्चय मारग गहै, रहै ब्रह्मगुण^१ लीन
 ब्रह्मदृष्टि सुख अनुभवै, सो ब्राह्मण परवीन ॥
 क्षत्री : जो निश्चयगुण जानकै, करै शुद्ध व्यवहार ।
 जीते सेना मोह की, सो क्षत्री भुज भार ॥
 वैश्य : जो जाने व्यवहारनय, दृढ़ व्यवहारी होय ।
 शुभ करनी सों रम रहै, वैश्य कहावै सोय ॥
 शूद्र : जो मिथ्यामति आदरै, राग द्वेष की खान ।

१. बनारसीविलास, पृष्ठ १६१

२. शुद्धात्मा

बिन विवेक करनी करै शूद्र वर्ण सो जान ॥
 वर्णसंकर : चार भेद करतूति सों, ऊँच-नीच कुल नाम ।
 और वर्णसंकर सबै, जे मिश्रित परिणाम ॥^२
 इसीप्रकार वैष्णवों एवं मुसलमानों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि -
 वैष्णव : जो हर घर में हरि लखै, हरि बाना हरि बोय ।
 हरि छिन हरि सुमरन करै, विमल वैष्णव सोइ ॥
 मुलसमान : जो मन मूसै आपनो, साहिब के रूख होई ।
 ज्ञान मुसल्ला^३ गह टिकै, मुसलमान है सोय ॥^३
 इस संदर्भ में डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

“धर्म के आडम्बर और क्रियाकाण्ड की निरर्थक योजनाओं के कविवर बनारसीदासजी विरोधी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन यदि विविध धर्मों की एक प्रयोगशाला कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कभी वैष्णव, कभी शैव, कभी तांत्रिक, कभी क्रियाकाण्डी, कभी नास्तिक, कभी श्वेताम्बर तो कभी दिगम्बर जैन के रूप में सभी धर्मों का अनुभव लिया और अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म का संबंध बाह्य प्रदर्शन व क्रियाकाण्ड आदि से रखा जायेगा तो उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ, क्षुद्रता व स्वैराचार पनप उठेगा। धर्म के नाम पर भी अमानवीय तत्त्व पुष्ट होंगे। अतः धर्म का नाता अन्तस् आत्मा से होना चाहिए।”^४

डॉ. जैन ने आगे लिखा - “कविवर बनारसीदास ने सत्रहवीं सदी के द्वितीयाब्द में सच्चे जैनत्व की दिशा में जनता का आदर्श मागदर्शन किया। धर्म के क्रियाकाण्ड की अति, आडम्बर का अभद्र प्रदर्शन और शिथिलाचार को उन्होंने सर्वथा अस्वीकार किया। कविवर ने स्पष्ट कहा-
 धर्म में व्यक्ति की नहीं, विचारों की मान्यता होनी चाहिए। उन्होंने नाटक समयसारादि ग्रन्थों में आत्मतत्त्व का अत्यन्त मार्मिक व युक्तिसंगत

१. बनारसीविलास, पृष्ठ १८७

२. नवाज पढ़ने के लिए बिछानेवाली चादर

३. बनारसीविलास, पृष्ठ २०४

४. कविवर बनारसीदास, शोधप्रबन्ध, पृष्ठ १२२

५. कविवर बनारसीदास, शोधप्रबन्ध, पृष्ठ ४२

विवेचन किया है।^१

भारतीय परम्परा में साहित्य व धर्म का परस्पर अन्तःसंबंध रहा है। वैदिक कालीन साहित्य तो मुख्यतः धार्मिक साहित्य ही है। इसके बाद का प्राकृत, पाली व अपभ्रंश साहित्य भी अधिकतर धर्म से ही संबंधित लिखा गया है। हिन्दी साहित्य में भी अधिकांश साहित्य धार्मिक ही है। अतः यदि धार्मिक साहित्य को साम्प्रदायिक कहकर इसकी उपेक्षा की गई तो लगभग सभी साहित्य की सीमा से बाहर हो जायेगा।

इसी संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' नामक पुस्तक में अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है-

“इधर जैन अपभ्रंश-चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मोहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।

स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होनेमात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित मानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है।

केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी की रामायण से भी अलग होना पड़ेगा और जायसी को दूर से ही दण्डवत करके बिदा कर देना होगा।”^१

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि धार्मिक साहित्य को साहित्य की सीमा से बहिष्कृत कर दिया गया तो साहित्य के नाम पर

१. बनारसीबिलास, प्रस्तावना, पृष्ठ २

केवल अश्लीलता ही शेष रह जायेगी, जिसमें साहित्यिक मूल्यों का नितान्त अभाव रहता है। और यदि कविवर बनारसीदास की केवल जैन साहित्य के लेखकों के नाते साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षा की गई, तब तो समीक्षकों की ही साम्प्रदायिक, संकुचित और अनुदार दृष्टि का दोष माना जायेगा, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो अन्य हिन्दू इस्लाम सम्प्रदाय भी सम्प्रदाय ही हैं, फिर सूर-तुलसी-केशव-कबीर एवं मीरा आदि साम्प्रदायिक क्यों नहीं? उनका साहित्य भी तो धार्मिक साहित्य ही है। धार्मिक साहित्य के कारण किसी भी कवि को साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। धर्म तो भारतीय संस्कृति की आत्मा है। उसके बिना साहित्य की समृद्धि संभव ही नहीं है।

बनारसीदास का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते हुए डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित लिखते हैं - “बनारसीदास में सन्तों की सी रूपात्मकता एवं अन्योक्तिमूलक युक्तियाँ, पहेली बनाकर कहने की पद्धति, लोकगीतों की सी राग ध्वनि का निर्वाह तथा भक्तों की सी विनम्रता सब एकसाथ दिखाई देती है।

संतों और भक्तों - दोनों के साथ कवि बनारसीदास का मेल मिलाया जा सकता है। उक्तियों में वे संतों के साथ सरलता व भाव स्थिति में तुलसी जैसे भक्त कवियों के साथ बैठायें जा सकते हैं।”

डॉ. वासुदेव सिंह, अध्यक्ष हिन्दी विभाग स्नातक महाविद्यालय सीतापुर बनारसीदास के बारे में लिखते हैं -

“आपकी गणना कबीर, दादू, सुन्दरदास, गुलाब साहब एवं धर्मदास आदि संत कवियों से की जा सकती है।”

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, हिन्दी विभागाध्यक्ष काशी विश्वविद्यालय वाराणसी ने अपने हृदयोद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है -

१. वीरवाणी, जयपुर, बनारसीदास विशेषांक १९९३, पृष्ठ ३

२. वीरवाणी, जयपुर, बनारसीदास विशेषांक १९९३, पृष्ठ ३

आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व उस प्रवाहमयी शैली को देखकर आश्चर्य होता है। उनका हिन्दी साहित्य में एक विशेष स्थान है, क्योंकि एक तो वे सोलहवीं सदी के अपने ढंग के एक ही लेखक थे। उन्होंने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ – इन तीनों मुगल सम्राटों के शासनकाल में उत्तर भारत की राजनीतिक और सामाजिक दशा को निकट से देखा था और अपने साहित्य में उसका उल्लेख भी किया है। दूसरे, वे हिन्दी आत्मकथा साहित्य के आद्यप्रवर्तक हैं। 'अर्द्धकथानक' काव्य में उन्होंने जिस नये काव्यरूप को अपनाया है, उसे हिन्दी के और किसी कवि ने नहीं छुआ।

हिन्दी के आत्मकथा साहित्य में 'अर्द्धकथानक' जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है। उसमें मनमौजी स्वभाववाले असफल व्यापारी का हुबहू चित्र देखने को मिलता है और पाठक को यह देखकर प्रसन्नता होती है कि वास्तव में बनारसीदास जैसे थे, उसका यथार्थ प्रतिबंध अर्द्धकथानक में आया है। लेखक व उसके शब्दों के बीच में कोई पर्दा नहीं है। इसमें उन्होंने जिस भाषा-शैली का उपयोग किया है, वह सहज ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। उसकी भाषा जौनपुर और आगरा के बाजारों में बोली जानेवाली भाषा है। उसमें मूल छटा तो हिन्दी है, पर अरबी व फारसी के भी बहुत से शब्द घुल-मिल गये हैं। उसका जीता-जागता सटीक नमूना बनारसीदास ने रखा है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

साहित्य के नाते बनारसीदास ने 'अर्द्धकथानक' में जो सच्चाई बरती है, उससे पाठक का मन आज भी फड़क उठता है। वे बराबर हमारी सहानुभूति अपनी तरफ खींच लेते हैं। क्या ही अच्छा होता, 'अर्द्धकथानक' जैसे और भी दो-चार ग्रन्थ उस युग की हिन्दी भाषा में लिखे जाते।^१”

अपने जीवन के पतझड़ में लिखी गई इस रचना से यह आशा उन्होंने

१. वीरवाणी, जयपुर, बनारसीदास विशेषांक १९९३, पृष्ठ ३

यह स्वप्न में भी नहीं की होगी कि यह कृति कई सौ वर्ष तक हिन्दी जगत में उनके यशःशरीर को जीवित रखने में समर्थ होगी।

कविवर की इस कृति को आद्योपांत पढ़ने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कतिपय तथाकथित समीक्षकों की उपेक्षा के बावजूद भी इसमें वह संजीवनी शक्ति है जो इसे कई सौ वर्षों तक जीवित रखने में समर्थ होगी तथा हिन्दी साहित्य में भी इसका विशेष स्थान होगा।

इसमें सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा जबर्दस्त पुट विद्यमान है तथा भाषा इतनी सरल व संक्षिप्त है कि साहित्य की चिरस्थाई सम्पत्ति में इसकी गणना अवश्यमेव होगी, क्योंकि हिन्दी का तो यह सर्वप्रथम आत्मचरित है ही, अन्य भाषाओं में भी इसप्रकार का और इतना पुराना आत्मचरित नहीं है।

प्रसिद्ध समालोचक एवं संसद सदस्य श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'अर्द्धकथानक' पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है –

बनारसीदास का आत्मचरित पढ़ते हुए प्रतीत होता है कि मानो हम कोई सिनेमा देख रहे हों।

सबसे बड़ी खूबी इस आत्मचरित की यह है कि यह तीन सौ वर्ष पुराने साधारण भारतीय जीवन का एक दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित कर देता है। क्या ही अच्छा हो यदि हमारे प्रतिभाशाली साहित्यिक इस दृष्टान्त का अनुसरण कर आत्मचरित लिख डालें।

फक्कड़ शिरोमणि कवि बनारसीदास ने तीन सौ वर्ष पहले आत्मचरित लिखकर हिन्दी के वर्तमान और भावी फक्कड़ों को न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रता पूर्वक अपने को कीटपतंगों की श्रेणी में रखा है।^२ तथापि इसमें संदेह नहीं कि वे आत्मचरित लेखकों में शिरोमणि हैं।^३”

इसप्रकार हम देखते हैं कि बनारसीदास के साहित्य में वे सभी काव्यगत उपादान एवं विशेषतायें हैं, जिनकी एक उत्कृष्ट कवि से अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त मौलिक चिन्तन, नई सूझ-बूझ, गहरी पकड़ एवं लोकजीवन का गहन अध्ययन और अध्यात्म की पैनी दृष्टि भी उनके रूप से कीटपतंग की बख चलावै कौन २. वीरवाणी, बनारसीदास विशेषांक १९६३ व्यक्तित्व में विद्यमान है।

२२

कहानी

मान से मुक्ति की ओर

“माया^१ तेरे तीन नाम, परसा-परसू-परस राम।” कहावत को चरितार्थ करते हुए जिनुआ बनिया को जिनुआ से जिन्नूजी और जिन्नूजी से जिनचन्द्र बने अभी चन्द दिन ही हुए थे, परन्तु वह बहुत जल्दी अपनी जिनुआ वाली औकात भूल गया था।

जब सारा गाँव उसे जिनुआ कहकर पुकारता था, गाँव में कोई इज्जत नहीं थी। घर में दो चना और दो धना भी नहीं थे। भूखों मरता था, भरपेट खाने को भी नहीं मिलता था। नंगे पैर गाँव के गलियारों में घूम-घूमकर चने-भूंगड़े बेचकर जैसे-तैसे रोजी-रोटी चलाता था।

पर “सबै दिन जात न एक समान” सिद्धान्त के अनुसार उसके भाग्य ने भी पलटी मारी, उसके दिन फिर गये और वह जिनुआ से जिन्नूजी बन गया।

“सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति” ज्यों-ज्यों उसके पास सम्पत्ति बढ़ती गई, उसका कद ऊँचा होता गया, कद के साथ पद भी बढ़ता गया।

जो कलतक दुनिया की दृष्टि में भोला था, कुछ नहीं समझता था; समाज की नजरों में मूर्खों का सरदार दिखता था। अब वही समाजभूषण, जैनरत्न “सेठ जिनचन्द्र” कहलाने लगे थे।

यद्यपि अभी भी उसके पास अभिमान करने लायक कुछ भी नहीं था; परन्तु जिस भाँति वृक्षविहीन प्रदेश में एरण्ड का पौधा भी वृक्ष कहलाता है, उसी भाँति सेठ जिनचन्द्र की स्थिति थी।

एक रिश्तेदार सेठ की पूँजी के सहयोग से साहूकारी में गाँव में किसानों को तगड़े ब्याज पर रुपया देकर तथा खेतों में बोने को दिए गए बीज की डेढ़ गुनी वसूली से कुछ ही दिनों में वह उस जनपद का सेठ बन गया।

आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाने से उसने उस सुख-सुविधाविहीन

छोटे से गाँव में अपने घर में कुछ सुविधायें जुटा ली थीं। जैसे कि पानी के लिए आँगन में नलकूप लगा लिया, नहाने-धोने, नित्यकर्मों से निबटने के लिए स्नानघर आदि बनवा लिया। प्रकाश के लिए जनरेटर, गेसबत्ती की व्यवस्था कर ली, कच्चे मकान की मरम्मत करा ली, सवारी के लिए घोड़ा-गाड़ी रख ली।

इसप्रकार उसने गाँव के गरीब व्यक्तियों से कुछ अलग दिखने के साधन क्या जुटा लिए और बन गये ‘अंधों में काने राजा’। फिर क्या था अब तो उसकी चाल ही बदल गई। सीधा चलता ही नहीं, उसका बातचीत का तरीका ही बदल गया। वह किसी से सीधे मुँह बात ही नहीं करता। जैसे - शतरंज के खेल में जब प्यादा प्यादे से वजीर बन जाता है तो उसकी चाल टेढ़ी हो जाती है, उसीतरह वह जिनुआ से जिनचन्द्र बनते ही मानो उसके पंख लग गये और आकाश में उड़ने लगा।

वह बिचारा यह नहीं जानता था कि “यह सब तो पुण्य-पाप का खेल है। रोड पर पैदल रास्ता नापनेवालों को करोड़पति बनकर कार में दौड़ने में यदि देर नहीं लगती तो करोड़पति से पुनः रोड पर आ जाने में भी देर नहीं लगती। शास्त्र इस बात के साक्षी हैं, शास्त्रों में लिखा है कि जो जीव एक क्षण पहले तक स्वर्गों के सुख भोगता है, सहस्रों देवांगनाओं सहित नन्दनवन के सैर-सपाटे करता हुआ आनन्दित होता है, वही अगले क्षण आयु पूरी होने पर - ‘तंहतैं चय थावर तन धरै’ इस आगम प्रमाण के अनुसार एक क्षण में एक इन्द्रिय जीव की योनि में चला जाता है। जो अभी चक्रवर्ती के भोगों के सुख भोग रहा है, वही मरकर सातवें नरक में भी जा सकता है।

अतः यदि कोई थोड़ा भी समझदार हो, विवेकी हो तो वह क्षणिक अनुकूल संयोग में अपनी औकात (हैसियत) को नहीं भूलता। अपनी भूत और वर्तमान पर्याय की कमजोरी और त्रिकालीस्वभाव की सामर्थ्य - दोनों को भलीभाँति जानता है। अतः उसे सेठ जिनचन्द्र की भाँति संयोगों में अभिमान नहीं होता; परन्तु ऐसी समझ सेठ जिनचन्द्र में नहीं थी।

यद्यपि सेठ जिनचन्द्र पिता के जमाने से चले आ रहे परम्परागत

प्रक्षाल-पूजन और प्रवचन के नियम का निर्वाह बराबर करता था; भले दो-चार श्रोता ही क्यों न हों; पर वह प्रवचन करता अवश्य था; क्योंकि प्रवचन भी उसके मान-पोषण का एक साधन था। मौका मिलते ही वह उस अभिमान के भाव को व्यक्त किये बिना भी नहीं रहता था।

वह कहता - “भैया ! क्या बताऊँ समाज की दशा ! यदि मैं प्रक्षाल, पूजा और (प्रवचन) न करूँ तो विचारे भगवान दो-दो बजे तक बिना प्रक्षाल-पूजा के ही बैठे रहेंगे; क्योंकि साप्ताहिक बारीवालों का तो कोई ठिकाना ही नहीं। उन्हें तो जब टाइम मिलेगा, तब आयेंगे और वेगार^१ जैसी टाल कर चले जायेंगे। एक मैं ही हूँ, जो सबेरे समय पर प्रक्षाल-पूजा हो जाती है। यदा-कदा जब मैं नहीं होता, बाहर चला जाता, तब ऐसा ही होता है।

मनुष्य तीन श्रेणी के होते हैं - १. उत्तम २. मध्यम और ३. अधम।

“**उत्तम मनुष्य** वह है, जो दूसरों की गलती का दुष्परिणाम देखकर स्वयं सावधान हो जाय। **मध्यम पुरुष** वह है जो एक बार गलती का दण्ड भुगतकर पुनः गलती न करे तथा **अधम पुरुष** वह है, जो गलती पर गलती करता रहे; गलतियों का दण्ड भुगतता रहे; फिर भी सुधरे नहीं, चेते नहीं।”

सेठ जिनदत्त तीसरी श्रेणी का व्यक्ति था। क्या आप जानते हैं कि कुत्ते में एक गुण और तीन दुर्गुण होते हैं। यद्यपि कुत्ता स्वामीभक्त होता है, यह उसका अद्वितीय गुण है। कुत्ते जैसा स्वामी भक्त कोई नहीं होता; पर उसमें तीन दुर्गुण भी होते हैं -

प्रथम - कुत्ता जबतक पिटता है, तभीतक काई-काई करता है, पि ट न ा बंद होते ही फिर वही गलती करता है, जिसके कारण वह अभी-अभी पिटा है। द्वितीय - कुत्ते की पूँछ १२ वर्ष तक भी पुंगी में क्यों न डाली जाये, जब भी निकलेगी टेढ़ी ही निकलेगी। तृतीय - कुत्ते में एक कमी यह भी होती है कि वह बिना प्रयोजन भी भौंकता रहता है और दूसरे कुत्तों को देखकर तो वह जरूर ही भौंकता है।

१. मजबूरी में अरुचिपूर्वक किया गया काम

ये तीनों दुर्गुण सेठ जिनचन्द्र में भी थे। वह जिनुआ से जिनचन्द्र बनते ही जिनुआ की अवस्था में हुई दुर्दशा को भूल गया था और फिर उन्हीं गलतियों को करने लगा, जिनके कारण उसने लम्बे (दीर्घ) काल तक दरिद्रता का दुख भोगा था। पैसा बढ़ते ही पुनः अभिमान के शिखर पर चढ़ गया; जबकि वह स्वयं पूजन में प्रतिदिन बोला करता था कि -

“**मान महाविषरूप करहि नीचगति जगत में।**

कोमल सुधा अनूप सुख पावै प्रानी सदा ॥”

फिर भी वह अपनी आदत से मजबूर था।

फुरसत के समय घर के बाहर द्वार के सामनेवाले चबूतरे पर आकर बैठ जाता। अपने बड़बोले स्वभाव और बिना प्रयोजन अधिक बोलने की आदत से वह कुछ न कुछ बोलता ही रहता। उसे बैठा देख कुछ चाटुकार खुशामदी प्रकृति के ठलुआ भैया भी आ बैठते; क्योंकि एक तो उन्हें कुछ काम नहीं होता। दूसरे, सेठ के साथ बैठकर उनका भी समय पास हो जाता। तीसरे, उन्हें सेठ को राजी रखकर अपना उल्लू सीधा करने का मौका मिलता। अतः वे सेठ की झूठी/सच्ची बातों की हाँ में हाँ मिलाया करते और सेठ के साथ नकली हँसी हँसा करते।

मेरा घर पास में ही था, उनकी ठहाकों की आवाज सुनकर मेरा मन भी उनकी खट्टी-मीठी बातें सुनने को मचलने लगता। मुझे भी घर में अकेले बैठे रहना अच्छा नहीं लगता, इसकारण मैं भी उनकी महफिल में शामिल होकर मूकदर्शक बना उनकी बातों से अपना मनोरंजन करता रहता।

बैठे हुए व्यक्तियों पर रौब जमाने हेतु सेठ जिनचन्द्र स्वयं के नकली बड़प्पन को प्रदर्शित करने और दूसरों की दरिद्रता व हीनता-दीनता को दर्शाते हुए, उजागर करते हुए कहने लगता - “वे इन्दौरवाले बड़े धन्ना सेठ बने बैठे हैं, उस पंचकल्याणक में बड़ी शान से मेरे आमने-सामने सौधर्म इन्द्र की बोली लगाने खड़े हो गये। मैंने सीधे पचास हजार बोले तो उन्होंने आव देखा न ताव, सीना ताने मेरी बोली पर सीधे पाँच-पाँच हजार बढ़ाने लगे।

मैंने मन में कहा - “ठीक है बेटा ! तू भी आज मेरे सामने । मैंने आज भरी सभा में तेरी भी नाक न कटाई तो मेरा नाम जिनचन्द्र नहीं । एक खुशामदी बोला - “सेठजी आपने सोचा तो अच्छा; परन्तु फिर आखिर में हुआ क्या ?”

“होना क्या था, मैंने कोई कच्ची गोलियाँ थोड़े ही खेली हैं, जैसे-जैसे वह बढ़ता गया, मैं भी बढ़ता गया । दो लाख तक पहुँचते ही वह टाँय-टाँय फिस्स हो गया, हिम्मत हार गया, मुँह लटका कर बैठ गया ।”

दूसरा पड़ोसी आश्चर्य प्रगट करते हुए बोला - “तो आपने दो लाख में बोली ले ली !”

सेठ बोला - “और नहीं तो क्या ? मैंने ही ली । मेरे सामने और किसकी हिम्मत थी, जो मेरा सामना करता ।”

तीसरा बोला - “काम तो आपने बहुत अच्छा किया । इससे पूरे गाँव का नाम ऊँचा हुआ; परन्तु यदि बुरा न मानो तो एक बात पूँछू । डरते-डरते उसने प्रश्न किया ।”

सेठ अकड़कर बोला - “एक ही क्यों ? तू दो प्रश्न पूँछ न ! प्रश्न पूँछने में बुरा मानने की बात ही क्या है ?”

“वीतराग-विज्ञान पाठशालावाले कह रहे थे कि आपका पाठशाला का लिखाया चन्दा तीन साल से बाकी निकल रहा है । इसकारण पाठशाला के पण्डितजी को प्रतिमाह वेतन चुकाने में भारी कठिनाई होती है, यहाँ-वहाँ से माँगकर पूर्ति करनी पड़ती है । बेचारे पण्डितजी का दैनिक खर्चा वेतन से ही तो चलता है ।” उन्होंने यह भी कहा कि - “हम सेठ के घर के इसके लिए कई चक्कर काट चुके; पर उनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगता ।” क्या यह बात सही है ?

सेठ तुनक कर बोला - “अरे भैया ! तुम बहुत भोले हो । तुम्हें तो पता ही है कि ये चन्दावाले आये दिन खड़े ही रहते हैं, कभी कोई तो कभी कोई ।

चौथा बोला - “हाँ, सो तो है आप दानवीर जो ठहरे ! जब आपको

हजारों लोगों की उपस्थिति में पंचकल्याणक के मेले में ‘दानवीर’ उपाधि की घोषणा हुई तो हजारों लोगों ने सुना और दूसरे दिन लाखों लोगों ने पेपर में भी यही समाचार पढ़ा तो चन्दा लेनेवाले तो आयेंगे ही । आपके यहाँ नहीं आयेंगे तो और कहाँ जायेंगे ?”

सेठ ने कहा - “हाँ, भैया यही सोचकर तो बोली बोलते हैं और चन्दा लिखा देते हैं; पर इसका मतलब यह तो नहीं कि वे साहूकार बनकर कर्ज वसूली की तरह तगादा करें । क्या हमने किसी का कर्ज लिया है, जो चिंता करें । बोली ही तो ली है, चन्दा ही तो लिखाया है, इसमें कौन से पाप का काम कर लिया ? जब होंगे तब दे देंगे । हमने तो तगादा करनेवालों से साफ-साफ कह दिया - आइन्दा हमारे कोई भी तगादे का पत्र या फोन नहीं आना चाहिए, वरना हमसे बुरा भी कोई नहीं ।”

पाँचवाँ बोला - “सेठजी ! अभी तो आप कह रहे थे कि बेटे को शेयर में एक करोड़ मिला है, फिर पुराना लिखाया हुआ चन्दा चुका क्यों नहीं देते ?”

सेठ ने आँख बदलते हुए कहा - “हाँ, हाँ मिला है, पर ऐसे लुटाने को थोड़े ही मिला है । घर की जरूरतें भी तो होती हैं । कल ही तो उसने पचास लाख का नया बंगला लिया है । पच्चीस लाख की नई मरसरीजड गाड़ी बुक कराई है । दस लाख के बहू के लिए हीरों के गहने बनवायें हैं, मेरी ५०वीं वर्षगाँठ को मनाने का लगभग ५ लाख का बजट है, उसमें सिनेतारिका ऐश्वर्याराय का नाइट शो होगा । दो लाख तो वही ले जायेगी । दैनिक खर्च में पोते-पोतियों को १००-२०० रुपये रोज का तो जेब खर्च ही है । बेटे के बाररूम की महफिल का खर्च अलग । अब तुम्हीं सोचो ये जरूरी कामों की सोचें या पहले पुराना चन्दा-चिट्टा चुकायें, और दान पुण्य करें ।

दान-पुण्य तो मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की बातें हैं सो जब जैसा मौका आता है, बोल-बाल देते हैं ।

हाँ, अपने नाम का एक चैरिटेबल ट्रस्ट बनाने का विचार जरूर है। उसे टेक्स फ्री कराने की कोशिश करेंगे और उसके द्वारा विधवा सहायता और कन्याशाला चलाने का काम करेंगे।”

आपस में कानाफूसी करते हुए वहाँ बैठे लोगों ने टिप्पणी की – “सेठ है तो बड़ा दूरदर्शी ! सेठानी बीमार रहने लगीं हैं न ! उससे अब चलते-फिरते, उठते-बैठते भी तो नहीं बनता, इसलिए सेठ विधवा सहायता और कन्याशाला के बहाने औरतों का मेला लगायेगा और अधिक कुछ नहीं तो उन विधवाओं और शिक्षिकाओं को घूर-घूरकर अपनी आँखे ही सेंक लिया करेगा।”

कोई अपने मनोविकारों को कितना भी छिपाये, पर चेहरे की आकृति हृदय की बात कह ही देती है। खोटी नियत जाहिर हुए बिना नहीं रहती और खोटी नियत का खोटा नतीजा भी सामने आ ही जाता है। इसी कारण तो पास बैठे लोगों ने सेठ की खोटी नियत को भांप लिया था।

एक दिन वह सेठ घर के बाहर उसी चबूतरे पर बैठा अपने पूर्व परिचित चाटुकारों और खुशामद करनेवालों के बीच बैठा उन पर अपना रौब जमाने के लिए लम्बी-लम्बी छोड़ रहा था। लाखों-करोड़ों के बड़े-बड़े व्यापार करने एवं उसमें मुनाफा मिलने की बातें कर रहा था। संयोग से दो-तीन अपरिचित व्यक्ति भी वहाँ आ बैठे, जिनकी ओर उसका ध्यान नहीं गया।

उसकी ऊँची-ऊँची बातें सुनकर उन अपरिचितों के मन में लोभ आ गया। उन्होंने सोचा – “यह तो मोटा मुर्गा है, यदि यह अपनी पकड़ में आ गया तो अपना जन्मभर का दलदर दूर हो जायेगा। फिर रोज-रोज अपनी जान को जोखिम में डालने की जरूरत ही नहीं रहेगी।”

फिर देर किस बात की थी; उन्होंने वहीं योजना बना डाली। कल ही प्रातः ५ बजे नेशनल पार्क में घूमने आनेवाले इस सेठ के बेटे का अपहरण कर लिया जाय और एक करोड़ फिरौती में इससे वसूल किये जायें।

सुनियोजित योजना के अनुसार सेठ के बेटे जिनेश्वर का अपहरण हो गया और फोन पर सेठ को यह धमकी दे दी गई कि “यदि २४ घंटों में एक करोड़ की फिरौती निर्धारित स्थान पर लेकर नहीं आया तो बेटा को जान से मार दिया जायेगा। यदि पुलिस को सूचित किया तो तुम्हारी बीबी भी विधवा हो जायेगी।”

सेठ जिनचन्द्र ने ज्यों ही समाचार सुना तत्काल उसके सीने में दर्द हो गया, हल्का-सा हार्ट-अटैक हो गया। पहले तो वह सीना दबाकर वहीं बैठ गया; फिर तत्काल हिम्मत करके स्वयं को संभालते हुए वह अपने किए पापों का पश्चाताप करने लगा।

अब उसकी समझ में सबकुछ आ गया था। वह सोचता है – “न मैं अभिमान के पोषण के लिए दूसरों के सामने अपने बड़प्पन का प्रदर्शन करता और न यह नौबत आती। मैंने स्वयं ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी पटकी है, अन्यथा किसे पता था कि मेरे पास क्या है ? कितना है ? मेरे ही बेटे का अपहरण क्यों हुआ ? औरों का क्यों नहीं ?

वस्तुतः मैंने ही अपने वैभव के प्रदर्शन की लम्बी-लम्बी बातें करके इस मुसीबत को मोल ले लिया है, लुटेरों को आमंत्रित किया है।

न मैं उस दिन एक करोड़ की चर्चा करता और न ये घटना घटती।” स्वयं बड़ा और दूसरों को छोटा, स्वयं को ऊँचा और दूसरों को नीचा दिखाने के चक्कर में यह झंझट सेठ के गले पड़ गई थी।”

नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि – ‘जिस भाँति ज्ञानी जन निज निधि को एकान्त में ही भोगते हैं, उसीतरह व्यवहारी जनों को भी अपने मान पोषण के लिए अपने बाह्य वैभव का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।’

एक ही झटका लगने से सठ को थोड़ी-थोड़ी अक्कल आ गई थी, अतः सोचता है कि गुरुजी ने ठीक ही कहा था कि – “धन की संचय अन्याय से नहीं करना, क्योंकि अन्याय का पैसा कालान्तर में मूल पूँजी सहित नष्ट हो जाता है।”

दूसरी बात गुरुदेव ने यह भीकही थी कि – “न्यायोपात्त धन अधिकतम

छटवाँ और न्यूनतम दसवाँ भाग सत्कार्यों में, ज्ञानदान में, परोपकार में लगना चाहिए तथा 'तुरंत दान महाकल्याण' जितना जो बोल दिया हो, देने की घोषणा कर दी हो, तत्काल दे देना चाहिए। क्या पता अपने परिणाम या परिस्थितियाँ कब विपरीत हो जायें और दिया हुआ दान न दे पायें।”

तीसरी बात - “शक्ति से अधिक नहीं देना, अन्यथा आकुलता हो सकती है तथा लोभ के वश शक्ति भी नहीं छुपाना।”

चौथी अन्तिम बात गुरुदेव ने यही कही थी कि “दान देकर उसके फल की वांछा-कांछा नहीं करना, बदले की अपेक्षा नहीं रखना।”

अपनी आलोचना और प्रायश्चित्त करते हुए सेठ कहता है कि “मैंने विवेक शून्य होकर उपर्युक्त चारों बातों का ध्यान नहीं रखा। इसकारण यह संकट मेरे ऊपर आया है। अतः मैं संकल्प करता हूँ कि पुण्योदय से प्राप्त धन विषय-कषाय की पूर्ति और दुर्व्यसनों में बर्बाद नहीं करूँगा।

पर अभी क्या करूँ ? पुलिस का सहारा लेता हूँ तो पहले तो पुलिस की ही पूजा करनी पड़ेगी ? क्या पता पुलिस कितने रुपया माँगे ? माँगे या न माँगे; पर उसे सक्रिय करने के लिए कुछ प्रलोभन देना तो पड़ेगा ही।”

सेठ यह सोच ही रहा था कि फोन की पुनः घंटी बजी, फोन उठाया तो कानों में आवाज आई - “सेठ क्या सोच रहे हो ? ध्यान रखना यदि पुलिस का सहारा लिया तो बेटे की लाश मिलेगी। हमारा कुछ भी हो, पर तुम्हें बेटे से हाथ धोना पड़ेगा।”

यह समाचार सुनकर सेठ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसे चक्कर आ गया। सीने में दर्द हुआ, फिर सीना दबाकर बैठ गया। सोचने लगा - “गुरुजी ने ठीक ही कहा था कि यह सब पुण्य-पाप का खेल है। अब पांसा पलट गया, फिर पाप का उदय आ गया। मैं पैसे को पाकर विवेकशून्य हो गया था। अब जो कुछ हुआ सो हुआ। सबसे पहले एक करोड़ का इन्तजाम कर बेटे को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।”

सेठ ने ५० लाख में कोठी बेची। बहू के जेवरात और गाड़ी आदि सबकुछ बेचकर पैसे की व्यवस्था की। थैली में भरकर फोन पर बताये ठिकाने की ओर जा रहा था कि कुछ गुंडे पीछे लग गये और रास्ते में वे रुपया सेठ से छीन कर भाग गये।

अब सेठ की दशा दयनीय हो गई। वह आत्मघात की सोच ही रहा था कि पुनः मोबाइल की घंटी बजी - “सेठ मरने से दुख से मुक्ति नहीं मिलेगी। कोई बात नहीं चिन्ता मत करो...। तुम्हारे रुपया हमें मिल गये। तुमसे पैसे छीननेवाले हमारे ही आदमी थे। तुम यदि हमारे ठिकाने तक आते तो तुम्हें और हमें दोनों को पुलिस पकड़ लेती, क्योंकि उस ठिकाने को पुलिस ने पहले से ही घेर रखा था। तुम चिन्ता न करो तुम्हारा बेटा कल तुम्हारे घर पहुँच जायेगा।”

आतंकवादी डाकुओं से मुक्त हुए जिनचन्द्र के बेटा ने बाप के कड़वे-मीठे अनुभवों को सीखकर उत्तम श्रेणी का व्यक्ति बन कर वह खोटी राह ही नहीं अपनाई, जिसमें कांटे ही कांटे थे।

सेठ से अब न रोते बनता था और न हँसते बन रहा था। जहाँ बेटा के सकुशल लौटने का बहुत हर्ष था, वहीं सर्वस्व समाप्त होकर पुनः सड़क पर आ जाने, करोड़पति से रोड़पति बन जाने का दुःख भी कम नहीं था।

यह सब पुण्य-पाप का विचित्र खेल १२ वर्ष की समयावधि में ही देखकर सेठ संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। उसे ऐसा वैराग्य आया कि उस घर-परिवार से मुँह मोड़कर पुनः करोड़पति बनने का सपना-विकल्प छोड़कर पुण्य-पाप से पार आत्मा के उस अनन्त वैभव को प्राप्त करने के लिए चल पड़ा, जिसका कभी अन्त नहीं आता, जो कभी नष्ट नहीं होता। ●

२३

कहानी

जान रहा हूँ, देख रहा हूँ

आषाढ मास की अष्टाह्निका का समय था, सिद्धचक्रपूजा विधान का वृहद् आयोजन चल रहा था। सारा समाज धार्मिक वातावरण के रंग में रंगा था। प्रातः पूजन-पाठ के बाद अध्यात्मरसिक, तार्किक विद्वान् स्थानीय पण्डितजी के प्रवचनसार परमागम पर मार्मिक प्रवचन चल रहे थे।

प्रवचनों में पण्डितजी नाना तर्कों, युक्तियों और उदाहरणों से आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को समझा रहे थे और स्वतंत्र स्व-संचालित वस्तु-व्यवस्था के आधार पर पर के कर्तृत्व का निषेध कर प्रत्येक प्रतिकूल-अनुकूल परिस्थिति में हर्ष-विषाद न करके ज्ञाता-दृष्टा रहने पर जोर दे रहे थे।

पण्डितजी ने अपने प्रभावी प्रवचन में यह भी बताया कि - “**धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है**” अतः जो सिद्धान्त हमने यहाँ समझे-सुने हैं, उनका हमें अपने पारिवारिक, व्यापारिक और सामाजिक जीवन में प्रयोग भी करना चाहिए; क्योंकि घर-परिवार या व्यापार और समाज के क्षेत्र में ही ऐसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग बनते हैं, जहाँ हमारे तत्त्वज्ञान की परीक्षा होती है। यदि हम अपने कार्यक्षेत्र में इन सिद्धान्तों के प्रयोग में सफल हुए तो ही हमारा तत्त्वज्ञान सुनना सार्थक है, अन्यथा पल्ला झाड़ू प्रवचन सुनने से कोई लाभ नहीं होगा।” पण्डितजी ने पुनः गीतमय भाषा में कहा-

“**बस, जानन-देखन हारा, यह आत्मा हमारा।**

जो जले नहीं अग्नि में, गले नहीं पानी में ॥

सूखे न पवन के द्वारा यह आत्मा हमारा ॥ बस ॥

सभी श्रोता सिर हिला-हिलाकर और तालियाँ बजा-बजाकर पण्डितजी के कथन का हार्दिक समर्थन करते हुए - अध्यात्म के रस में

मग्न होकर झूम रहे थे। साथ ही स्वर में स्वर मिलाकर सब एकसाथ बोल रहे थे - “**बस, जानन-देखन हारा, यह आत्मा हमारा।**”

अतिथिरूप में बाहर से पधारे एक वयोवृद्ध ब्रह्मचारी यह सब आध्यात्मिक वातावरण का नजारा देख रहे थे, पर उनके मुखमण्डल पर एक विचित्र प्रकार का भाव झलक रहा था। ऐसा लगता था कि संभवतः उन्हें यह सब पसन्द नहीं आ रहा है। वे सोच रहे थे - “यदि हम मात्र जानन-देखन हारे हैं तो यह हमारे काम-काज कौन कर जाता है? ‘कोई पर का कुछ कर ही नहीं सकता’ - ऐसे उपदेश से तो पुरुषार्थ का ही लोप हो जायेगा और सब स्वच्छन्दी हो जायेंगे। वे यही सब सोचते रहे, परन्तु उससमय उन्होंने कोई प्रतिक्रिया प्रगट नहीं की, चुपचाप उठकर चले गये और अपनी बात कहने के लिए अपने अनुयायी नजदीकी मित्रों से मिलकर मध्याह्न में अपने प्रवचन का प्रोग्राम बनवाया।

ब्रह्मचारी के प्रवचन की सूचना से सब श्रोता प्रसन्न थे, सभी श्रोता समय पर आ भी गये। सबको यह आशा और अपेक्षा थी कि एक वयोवृद्ध आत्मसाधक ब्रह्मचारीजी के अनुभवों का हमें विशेष लाभ मिलेगा; परन्तु ब्रह्मचारीजी ने प्रातःकालीन ‘जानन-देखन हारा’ के आध्यात्मिक वातावरण पर कटाक्ष करने के उद्देश्य से एक कहानी से अपना प्रवचन प्रारंभ किया -

ब्रह्मचारीजी ने कहा - “एक अध्यात्मप्रेमी सेठ और उसकी पत्नी प्रतिदिन की भाँति रात्रि दस बजे अपने शयन कक्ष में चले गये। जब वे गहरी नींद में सो गये तब मध्य रात्रि के बाद उनके शयन कक्ष में एक चोर ने प्रवेश किया। यद्यपि चोर सावधानी से कदम रख रहा था, पर संयोग से उसका हाथ सेन्टर टेबल पर रखी घंटी पर पड़ गया। घंटी की आवाज से सेठानी की नींद खुल गई। आँखें खोल कर देखा तो नाइट बल्ब के मन्द-मन्द प्रकाश में एक व्यक्ति तिजोड़ी में चाबी मिलाते हुए दिखा।

सेठानी समझ गई, यह कोई चोर है। उसने पति को धीरे से जगाकर कहा - “देखो ! घर में चोर घुस आया और उसने तुम्हारी तकिया के नीचे से तिजोड़ी की चाबी भी निकाल ली है।

नींद तो सेठ की भी खुल गई थी, सेठ ने भी चोर को देख लिया था, पर वह अपने अध्यात्म का आलम्बन लेकर चुपचाप जानता-देखता रहा और उस सेठ ने पत्नी से धीरे से कहा - “मैं सब जान रहा हूँ, देख रहा हूँ।”

चोर ने तिजोड़ी खोल ली, सारी धन-सम्पत्ति पोटली में बांध ली, अब जब वह कांख में दबाकर चल ही दिया तो पत्नी ने पुनः कहा - “कब तक जानते-देखते रहोगे, कुछ करोगे नहीं? देखो, वह माल लेकर चला...”

पति ने कहा - तू शान्त रह! मैं अपना काम कर रहा हूँ। इतने में तो चोर सब माल लेकर नौ-दो ग्यारह हो गया।

तब पत्नी चिल्लाकर बोली - “क्या खाक कर रहे हो? जानना-देखना भी कोई काम है? तुमने अपनी आँखों से देखते-देखते सब लुटा दिया। अरे! वह अकेला था और अपन दो थे, क्या उसे पकड़ नहीं सकते थे? पर तुम ऐसा क्यों करोगे? ज्ञाता-दृष्टा रहने का पाठ जो पढ लिया है।” यह कहते हुए वह मन ही मन सोचती है कि - इस पण्डित ने सभी श्रोताओं को कायर और निकम्मा बना दिया है।

ब्रह्मचारीजी ने कहानी पूरी करते हुए कहा - इसतरह पति और पण्डितजी के प्रति रोष प्रगट करती हुई बेचारी पत्नी रोती रह गई।”

इस कहानी के माध्यम से ब्रह्मचारीजी ने व्यंग्य करते हुए यह सिद्ध करना चाहा कि ये अध्यात्म की बातें करनेवाले इसीतरह कायरता की बातें करते रहेंगे, मुँह छुपा कर डरपोक बने सोते रहेंगे और लुटते रहेंगे।

ब्रह्मचारीजी के द्वारा अध्यात्म की हँसी उड़ानेवाले इस कटाक्ष भरे प्रवचन को सुनकर पास में बैठे अध्यात्मरसिक स्थानीय पण्डितजी से नहीं रहा गया। अतः उन्होंने अंत में बोलने की अनुमति लेकर कहा - “ब्रह्मचारीजी! आपने उदाहरण तो बहुत अच्छा दिया, पर इसमें आप निम्नांकित इतना अंश और जोड़ लें तो यही उदाहरण बेजोड़ हो जायेगा।

“धन की लोभी पत्नी को चोर धन ले जाते तो दिखा, पर उसे उस चोर की कमर पर लटकती कटार नहीं दिखी, जो कि उसके पति को दिख

रही थी। सेठ यह भी जानता था कि - चोर को रोकना-टोकना तो बहुत दूर, यदि चोर को यह भी पता लग जाता कि सेठ-सेठानी ने मुझे देख लिया है तो वह माल के साथ हम दोनों की जान भी ले जाता, पुलिस कार्यवाही के लिए वह हमें जिन्दा ही नहीं छोड़ता।

सेठ ने शास्त्र में यह भी पढा था कि “पैसे का आना-जाना तो पुण्य-पाप का खेल है। पुण्योदय से छप्पर फाड़कर चला आता है और पापोदय से तिजोड़ी तोड़ कर चला जाता है।” अतः उसने सोचा - “पैसों के पीछे प्राणों को जोखिम में नहीं डालना चाहिए।”

सेठ ने सेठानी को समझाया कि - “पैसा तो उस कुँए के पानी की भांति है, जिस कुँए की झिर चालू है। कृषक उस कुँए से दिन भर चरस चलाकर सम्पूर्ण पानी को खेतों में सींच कर कुँआ खाली कर देता है। वह खाली कुँआ प्रतिदिन प्रातः फिर उतना ही भर जाता है, कुँए की तरह तिजोड़ी को भी कोई कितनी भी खाली कर दे, पुण्योदय की झिर से वह पुनः भर जायेगी। चिन्ता क्यों करती है? अपने भाग्य पर भरोसा रख और धर्माचरण में मन लगा, धर्माचरण धन आने का भी स्रोत है।”

पण्डितजी के इस पाँच मिनट के उद्बोधन ने ब्रह्मचारीजी को अपने आध्यात्मिक अज्ञान का ज्ञान करा दिया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि वस्तुतः एक-दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। फिर क्या था - ब्रह्मचारीजी ने संकल्प किया कि इन पण्डितजी के पास रहकर मुझे कुछ दिन पढना चाहिए। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने चार माह तक पण्डितजी के आध्यात्मिक प्रवचन सुने और अंत में पण्डितजी का आभार मानते हुए बोले - “भैया हमें तो इन बातों की खबर ही नहीं थी। अब हमारी समझ में आया कि आत्मा का धर्म तो सचमुच मात्र “जानना-देखना” ही है तथा एक जीव दूसरे का भला-बुरा करने लगे तो उसके पुण्य-पाप का क्या होगा।” कहा भी है -

स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।

करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किए निष्फल होते।। ●

अध्यात्म रत्नाकर पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

– राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह 'जिनपूजन रहस्य' हो, चाहे 'णमोकार महामंत्र'। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें।

अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

– आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें – हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है।

कोटिशः शुभाशीष

– आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु।

मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है

– अध्यात्मयोगी वयोवृद्ध मुनिराज श्री निर्वाणसागरजी महाराज

मैंने पण्डितजी के व्याख्यान अनेक बार सुने, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में, अशोकनगर के पंचकल्याणक में मैं था, पण्डितजी वहाँ आये थे। थूबोनजी में भी पण्डितजी आये थे। उनके प्रवचन बहुत सरल और व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किए समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं भी कोई आगमविरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल होते हुए भी आध्यात्मिक है। जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, विदाई की बेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार – ये सभी पुस्तकें नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्रथमानुयोग में भी उन्होंने हरिवंश कथा, शलाकापुरुष जैसे ग्रन्थ लिखकर बहुत अच्छा काम किया है। मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है।

धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद

– मुनिश्री विशदसागरजी महाराज

पण्डितप्रवर श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने अपना जीवन सम्यग्ज्ञान की साधना और आराधना में समर्पित किया। भारिल्लजी अध्यात्म योग के साथ समाज को सही दिशा देने के लिए प्रयत्नशील रहकर लेखन कार्य करते हैं। अनेक पुस्तकों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाने के लिए तथा श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को जैन सिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद।

जिनवाणी के आराध्य

– अनगर ऊर्जयन्तसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल हम सभी के बीच ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिसका जीवन जिनवाणी का आराधन करते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा नव साहित्य सृजन एवं सुयोग्य विद्वानों के निर्माण में व्यतीत हो रहा है। हमारे जयपुर प्रवास में आयोजित विभिन्न धार्मिक समारोह गोष्ठियों आदि में आपने अपने तत्त्वज्ञान से समाज को काफी लाभान्वित किया है।

आपके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के शलाका पुरुष भाग एक व दो तथा हरिवंश कथा आपकी लेखनी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सहज, सरल व गम्भीर व्यक्तित्व के धनी पण्डितजी का साहित्य और जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जो योगदान है, वह अनुपमेय है। पण्डितजी साहब दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की इसीप्रकार निरन्तर सेवा करते रहें। यह मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री फूलचन्दजी पाटनी, कलकत्ता	११००.००
२.	श्री दिग. जैन नेमिनाथ पंचकल्याणक समिति, किशनगढ़	११००.००
३.	श्रीमती सोभागभाई सुनीलकुमारजी एवं किकावत परिवार, लूणदा	८०१.००
४.	श्री दिलीपभाई सेठी, कलकत्ता	५०१.००
५.	श्री मनोहरलाल काला अमृत महोत्सव समिति, इन्दौर	५०१.००
६.	श्री इन्द्रजीतजी गंगवाल, इन्दौर	५०१.००
७.	श्री शिकोहाबाद पंचकल्याणक समिति, शिकोहाबाद	५०१.००
८.	श्रीमती लक्ष्मीबेन श्रेयांसजी जैन, कलकत्ता	५०१.००
९.	श्री अनंतराय अमोलचंदजी सेठ, मुम्बई	५०१.००
१०.	श्री भागचन्दजी कालिका, उदयपुर	५०१.००
११.	श्रीमती सुमति बाई जैन एवं रेशामाबाई जैन, इन्दौर	५०१.००
१२.	श्रीमती मीनादेवी ध.प. तेजप्रकाशजी जैन, दिल्ली	५०१.००
१३.	श्री महेन्द्रकुमार राहुलजी गंगवाल, जयपुर	५०१.००
१४.	श्रीमती कुसुम जैन ध.प. विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	५०१.००
१५.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
१६.	श्रीमती पतासीदेवी ध.प. श्री इन्द्रचंदजी पाटनी, लाडनूँ	५०१.००
१७.	श्री बाबूलालजी जैन, केलवाड़ा	५०१.००
१८.	श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर, हरसूद	५०१.००
१९.	श्री दिग. जैन मन्दिर हस्ते विमलचन्दजी जैन, लवाण	५०१.००
२०.	श्री माँगीलालजी केरोत, लूणदा	५०१.००
२१.	ब्र. कुसुमताई पाटील, कुंभोज	२५१.००
२२.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
२३.	श्रीमती विमलादेवी सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	२५१.००
२४.	स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
२५.	श्री सुरेशचंद सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	२५१.००
२६.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
२७.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
२८.	श्रीमती भावना जैन ध.प. सुनीलकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा	१११.००
२९.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गौहाटी	१०१.००

कुल राशि

१३,४३७.००

(125)

ऐसे क्या पाप किए !

उपादान निज शक्ति है, जिय कौ मूल स्वभाव

विश्व में छह जाति के द्रव्य हैं, वे सभी अपनी-अपनी त्रिकाली ध्रुव उपादान शक्ति और क्षणिक योग्यतारूप उपादान शक्ति (सामर्थ्य) से भरपूर हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही सर्व शक्ति सम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस त्रैकालिक और क्षणिक योग्यतारूप उपादान शक्ति से स्वचतुष्टय में ही विलास करता है। स्वयं सामर्थ्यवान होने से उनको किसी भी परद्रव्य की मदद, सहायता की अपेक्षा नहीं है, किसी पर द्रव्य का उन पर कोई प्रभाव या असर भी नहीं है। उपादान निजशक्ति है, निमित्त परशक्ति है। निमित्त को उचित बहिरंग कारण भी कहते हैं।

निमित्त भी स्वयं में स्वतंत्र वस्तु होने से अपने ध्रुव उपादानरूप व वर्तमान क्षणिक उपादानरूप सामर्थ्य से पर की अपेक्षा बिना प्रति समय अपने स्व-अवसर में परिणामन करता रहता है। नित्य परिणामन कर रहे निमित्तों को पर की सहायता करने की फुर्सत ही कहाँ? और जब वस्तु स्वयं ही पर की सहायता के बिना अपने उपादान से कार्य करने में समर्थ है तो वहाँ निमित्तों की सहायता की उसे जरूरत ही कहाँ है?

कहा भी है - “सधै वस्तु असहाय, तहाँ निमित्त है कौन?”

जब वस्तु पर की सहायता बिना ही अपना कार्य करने में सक्षम है तो वहाँ निमित्त हस्तक्षेप करने वाले कौन होते हैं? अतः निमित्त अकिंचित्कर ही है, वे पर में कुछ भी नहीं करते।

जब वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता का ऐसा सुन्दर स्वाधीन विधान है, वस्तुस्थिति का ऐसा अकाट्य नियम है, तब स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए जगत निमित्त सामग्री को जुटाने की चेष्टा में इतना व्यग्र क्यों होता है, व्यर्थ खेद-खिन्न क्यों होता है?

प्रवचनसार की १६वीं गाथा की टीका में कहा गया है कि - “निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।” आगे इसी गाथा के भावार्थ में कहा है कि - “द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्तशक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है, इसलिए स्वयं ही छहकारक रूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ है, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।” - इसप्रकार भगवान आत्मा स्वयम्भू है। स्वयम्भू सदा सत् व अहेतुक होता है।

प्रत्येक द्रव्य “कारणानुविधायीनिकार्याणि” के नियमानुसार अपने उपादानरूप कारण का अनुसरण करके निमित्तों से निरपेक्ष रहकर ही परिणामता है। फिर भी वहाँ तदनुकूल बहिरंग निमित्त होता अवश्य है, क्योंकि कारण-कार्य व्यवस्था का ऐसा ही सहज सम्बन्ध है।

अन्तरंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन वलाधान या प्रतिबन्धक आदि किसी प्रकार का कोई भी निमित्त उपादान में कुछ कार्य नहीं करता। इस बात का समर्थन करते हुए इष्टोपदेश की गाथा ३५ में स्पष्ट किया है कि “समस्त परद्रव्यरूप निमित्त-गतेर्धर्मास्तिकायवत्” उदासीन ही हैं।” मात्र निमित्तों का परस्पर अन्तर स्पष्ट करने के लिए ऐसे भेद किये हैं; किन्तु कार्य में कोई भी परद्रव्य प्रभाव नहीं डाल सकते। इसी समझ का नाम सच्चा इष्टोपदेश है।

जिसतरह जब जीव और पुद्गल स्वयं गमन करे तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है। धर्मास्तिकाय चलाता नहीं, कुछ प्रभाव डालता नहीं, मदद-सहायता नहीं करता, उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी शक्ति अनुसार स्वयं परिणामित होते हैं। इतना अवश्य है कि जब कार्य होता है, तब निमित्त होता अवश्य है, परन्तु उससे कार्य नहीं होता।

निमित्त को स्वीकार न करे तो ज्ञान झूठा और निमित्त से कार्य होना माने तो श्रद्धा झूठी। समयसार गाथा ८४ के भावार्थ में पण्डित प्रवर जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं - “पुद्गल द्रव्य को परमार्थ से पुद्गल द्रव्य ही करता है, जीव तो पुद्गल कर्म की उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणामों को करता है; और पुद्गलद्रव्य ही कर्मों को भोगता है; परन्तु जीव और पुद्गल का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गल कर्म को करता है और भोगता है। अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादि काल से प्रसिद्ध व्यवहार है।”

आगे प्रवचनसार गाथा ८५ के भावार्थ में कहा है - “दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता।” गाथा ८६ के भावार्थ में कहा है - “आत्मा और पुद्गल - दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है - ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि है।”

सारांश यह है कि निमित्त सदा उपेक्षणीय है, हेय है। आश्रय करने लायक नहीं है, अतः उपादेय नहीं है।

स्व की अपेक्षा और पर की उपेक्षा से ही स्वात्मोपलब्धि संभव है। आत्मोपलब्धि का अन्य उपाय नहीं है।

हम सब ज्ञानस्वभावी ध्रुव उपादानस्वरूप मंगलमय निज आत्मा का उग्र आश्रय कर साध्य उपादेय निष्कर्म अवस्था को पर्याय में प्रकट करें। उपादान-निमित्त समझने का यही प्रयोजन है।

(स्व. बाबूभाई स्मृति विशेषांक से)



निज परिणति से हम दूर हुए

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

परिजन के पालन की धुन में,
धन संचय की उधेड़बुन में,
पर को समझाने के चक्कर में।
निज को समझाना भूल गये,
निज परिणति से हम दूर हुए।

सब धन की धुन में हैं अटके,
पर परिणति में ही हैं भटके।
पर के सत्पथ दिग्दर्शन में,
संकल्प-विकल्प सहस्र हुए।
निज परिणति से हम दूर हुए॥

पर से सुख पाने के भ्रम में,
वैभव संग्रह के श्रम में,
पर में ही हम मसगूल हुए।
थक-थक कर हम चकचूर हुए।
निज परिणति से हम दूर हुए॥

पद पाने की धुन के पक्के,
खाकर के भी सौ-सौ धक्के,
सच्चे झूठे वायदे करके।
पद पाने में हैरान हुए
निज परिणति से हम दूर हुए॥



श्री सिद्धचक्र माहात्म्य

श्री सिद्धचक्र गुणगान करो मन आन भाव से प्राणी;
 कर सिद्धों की अगवानी ॥टेक ॥
 सिद्धों का सुमरन करने से, उनके अनुशीलन चिन्तन से;
 प्रगट्टै शुद्धात्म प्रकाश, महा सुखदानी ५ ५ ५ ।
 पाओगे शिव रजधानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥१ ॥
 श्रीपाल तत्त्वश्रद्धानी थे, वे स्व-पर भेद विज्ञानी थे;
 निज देह-नेह को त्याग, भक्ति उर आनी ५ ५ ५ ।
 हो गई पाप की हानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥२ ॥
 मैना भी आतम ज्ञानी थी, जिन शासन की श्रद्धानी थी;
 अशुभभाव से बचने को, जिनवर की पूजन ठानी ५ ५ ५ ।
 कर जिनवर की अगवानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥३ ॥
 भव-भोग छोड़ योगीश भये, श्रीपाल ध्यान धरि मोक्ष गये;
 दूजे भव मैना पावे शिव रजधानी ५ ५ ५ ।
 केवल रह गई कहानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥४ ॥
 प्रभु दर्शन-अर्चन-वन्दन से, मिटता है मोह-तिमिर मन का;
 निज शुद्ध-स्वरूप समझ का, अवसर मिलता भवि प्राणी ५ ५ ५ ।
 पाते निज निधि विसरानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥५ ॥
 भक्ति से उर हर्षाया है, उत्सव युत पाठ रचाया है;
 जब हरष हिये न समाया, तो फिर नृत्य रक्षण की ठानी ५ ५ ५ ।
 जिनवर भक्ति सुखदानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥६ ॥
 सब सिद्धचक्र का जाप जपो, उनही का मन में ध्यान धरो;
 नहीं रहे पाप की मन में नाम निशानी ५ ५ ५ ।
 बन जाओ शिवपथ गामी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥७ ॥
 जो भक्ति करे मन-वच-तन से, वह छूट जाय भव बंधन से;
 भविजन! भज लो भगवान, भगति उर आनी ५ ५ ५ ।
 मिट जै है दुःखद कहानी ॥श्री सिद्धचक्र. ॥८ ॥

शुद्धात्मा का स्वरूप

समयसार गाथा ४९ में कहा है - “आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, अव्यक्त तथा चेतनागुण से युक्त एवं किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और जिसका कोई आकार नहीं है - ऐसा जान ।” (समयसार गाथा ४९) ।

यह आत्मा गुणों का पिण्ड है, रूप-रस-गंध-स्पर्श-वर्ण आदि से रहित है, इसमें कोई आकार नहीं होता, इसमें पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व नहीं होता, इसमें काला-गोरा आदि कोई रूप नहीं होते ।

जिन्हें यह भी ज्ञान नहीं कि “मैं आत्मा तो एक अमूर्तिक पदार्थ हूँ” जो इन पौद्गलिक पदार्थों को अपना मानते हैं, वे अज्ञान इन द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से ही आत्मा का ज्ञान करते हैं जबकि आत्मा तो इन द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से देखने में आता नहीं, वह तो अनुभवगम्य है ।

मोक्षमार्गप्रकाशक में एक जगह पंडित टोडरमलजी ने लिखा है कि -

“शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उन्हें यह अज्ञानी जीव एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने स्पर्श किया, जीभ से स्वाद लिया, नासिका से सूँघा, नेत्रों से देखा, कानों से सुना और मन से मैंने जाना - यों अपने को ये अज्ञानी जीव द्रव्येन्द्रिय रूप ही मानते हैं, उनको इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि “इस दृश्यमान पौद्गलिक देह से भिन्न मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हूँ।”

इस जीव को परिचय करने लायक - अनुभव करने लायक एक मात्र जीवतत्त्व है, आत्मतत्त्व है; क्योंकि इसी के अनुभव करने से सच्ची शान्ति मिलती है ।

राग-द्वेष-मोहादि विकारी भावों का परिचय तो इस जीव ने अनादि काल से अब तक अनंत बार किया है, परन्तु इसे शान्ति नहीं मिली;

बल्कि उस विकाररूप अनुभव के फलस्वरूप इसे अशान्ति ही मिली, यह दुःखी ही हुआ। इसमें निरन्तर आकुलता का ही उत्पाद हुआ, कषाय का ही वेदन हुआ, कषाय की ही आग में जला है। इस जीव ने अब तक अपने अविकारी आत्मतत्त्व का परिचय नहीं किया, अनुभव नहीं किया।

रे जीव! तू अपने इस आत्मतत्त्व को - चैतन्यतत्त्व को एक बार जान तो सही, पहिचान तो सही, अनुभव तो सही, निहाल हो जायेगा।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि बाह्य पदार्थ तो आत्मा है नहीं, देह व देह की क्रिया भी आत्मा व आत्मा की क्रिया नहीं है और आप कहते हो कि अध्यवसानादि भाव भी जीव नहीं है; तो फिर जीव कैसा है?

समाधान यह जीव अरस है; इसमें खट्टा, मीठा, कड़वा आदि कोई रस नहीं है, जो जिह्वा से रसरूप में चखकर जाना जा सके, इसका अनुभव किया जा सके। दूसरे - यह जीव अरूपी है अर्थात् काला, पीला आदि इसमें कोई रूप नहीं है, जो कि नेत्रों के द्वारा देखकर जाना जा सके। तीसरे - इसमें कोई स्पर्शन (व्यक्तपना) जैसा गुण भी नहीं है, जो कि इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श करके जाना जा सके। छट्ठे - इसमें कोई पौद्गलिक पदार्थों अरे भाई! आत्मा का ऐसा आकार भी नहीं है, जो कि इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सके।

प्रश्न :- आत्मा पर में क्या करता है?

समाधान :- आत्मा अपने से बाहर अन्य में कुछ कर ही नहीं सकती, आत्मा तो सिर्फ अपने भावों का ही कर्ता है। बाहर में दिखनेवाला यह कार्य इस आत्मा का कार्य नहीं है। जैसे कोई नाटक खेलनेवाला व्यक्ति राजा हरिश्चंद्र का पार्ट अदा करता है तो वह उस पार्ट के अदा करने मात्र से कहीं राजा हरिश्चंद्र नहीं हो गया, वह तो पार्ट अदा करने के बाद जो वास्तव में था वो ही है; इसीप्रकार यह आत्मा नाना प्रकार के देह धारणकर (भेष धारण कर) कहीं उन नानारूप नहीं हो जाता, देह से छुटकारा प्राप्त करने पर वह तो जो था वही रह जाता है।

प्रश्न :- यह जीव यदि पर में कुछ नहीं करता तो इसके अन्दर में जो शुभ-अशुभ भाव होते हैं उनको तो यह जीव ही करता होगा?

समाधान :- आचार्यदेव समाधान देते हैं कि यह जीव इन शुभ-अशुभ भावों का भी कर्ता नहीं है। ये शुभ-अशुभ भाव तो आत्मा के विकारी भाव हैं, विभावभाव हैं, आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं; अतः ये भी इस आत्मा के नहीं है।

प्रश्न :- तो फिर वह आत्मा कैसा है?

समाधान :- “देखो! इस मनुष्यपर्याय से भिन्न तथा संपूर्ण शुद्धाशुद्ध पर्यायों से प्रथक जीवतत्त्व ही आत्मा है।

प्रश्न :- तो क्या यह आत्मा सिद्धगतिवाला है?

समाधान :- अरे! सिद्धगतिवाला भी आत्मा नहीं है। सिद्धगति भी एक पर्याय है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर जो एक स्वयंसिद्ध है, जिसका बनाने-बिगाड़ने वाला कोई अन्य नहीं; वह आत्मा है।

प्रश्न :- आत्मा की वह स्वयंसिद्ध पर्याय क्या है?

समाधान :- यह भगवान आत्मा केवल निरावरण प्रत्यक्ष प्रगट प्रतिभासमय परमात्मद्रव्य है, ज्ञायक तत्त्व है वही आत्मतत्त्व है।

प्रश्न :- देह का संयोग होने पर भी जो देह से भिन्न है - ऐसा ज्ञानस्वभावी, ज्ञायकस्वभावी, आत्मतत्त्व कैसा है?

समाधान :- वह जीव एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि इन्द्रियरूप नहीं; बहिरात्मा, अन्तरात्मारूप भी नहीं; अतः वह एक अलौकिक तत्त्व है।

प्रश्न :- अरे! क्या जीव बहिरात्मा-अन्तरात्मारूप भी नहीं है?

समाधान :- हाँ, यह जीव बहिरात्मा-अन्तरात्मा आदि भेदों से रहित है, श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र आदि भेदों से भी रहित है, पूर्ण श्रद्धान-ज्ञान-चारित्रमय है। भेद करके देखने पर आत्मा के दर्शन नहीं होंगे। वह एक अभेद-अखण्ड ज्ञायकस्वभावी तत्त्व है।

यह आत्मा इन देहादिक समस्त परपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है - ऐसा जानने में आए, “तब आत्मा जाना” - ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :- वह आत्मा कौन जो राग-द्वेषादि से भिन्न है?

समाधान :- वह जीव चेतनागुण स्वभाववाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है। शरीर का आकार आत्मा का स्वरूप नहीं है। काला, पीला, मोटा, दुबला दिखनेवाला भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा तो एक अखण्ड, नियत वस्तु है।

आत्मा में नियतपने का, एकरूप रहने का गुण है। कितनी ही पर्यायों में गया, एकेन्द्रिय हुआ, सैनी हुआ, बड़ा लम्बा मगरमच्छ हुआ, अत्यन्त छोटे-बड़े शरीरों में गया, फिर भी यह जीव ज्यों का त्यों रहा, कहीं छोटा-बड़ा नहीं हुआ। ऐसा नियत स्वभाववाला मैं स्वयं आत्मा हूँ।

अज्ञानवश यह जीव इन परपदार्थों में अहंबुद्धि करके इन रूप अपने को मानता है। इस शरीर में भी आत्मीयता करके 'यही मैं हूँ' - ऐसा अनुभव करता है। जिसप्रकार कोई कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है तो उसमें खून तो नहीं होता, उसके चबाने से खुद के ही मसूढ़ों से निकले खून का स्वाद लेता है और भ्रम से मानता है कि मुझे हड्डी से स्वाद आया; ठीक इसीप्रकार अपने सुखस्वभावी आत्मा को भूलकर अज्ञानतावश देहादिक परपदार्थों में आत्मीयता की बुद्धि करके यह अज्ञानी जीव मानता है कि मुझे अमुक पदार्थ से सुख आया।

यह जीव इन बाहरी दिखनेवाली इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान करता है, बाहर में जानता है, देखता है, सुनता है, स्वादता है, मौज मानता है, इन्हें देखकर यह मानता है कि यह इन्द्रियवाला देह ही मैं जीव हूँ; पर आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि बाहर में दिखनेवाला यह देह आत्मा नहीं है, आत्मा की सत्ता तो इस देह से अत्यन्त भिन्न है।

जिसने उस आत्मतत्त्व को भलीभाँति जाना नहीं, समझा नहीं; वह बाहरी कितनी ही धार्मिक चेष्टाएँ करे, भले ही भ्रम से अपने को ज्ञानी - सम्यग्दृष्टि अनुभव करे अपने पर आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा जीव तो अभी धर्म के मार्ग से अत्यन्त दूर है।

देखो! यह मनुष्यभव भव का अभाव करने के लिए मिला है, भव बढ़ाने के लिए नहीं। राग-द्वेष-मोहादि विकारीभाव करके तो यह जीव अपने भव बढ़ाने का ही उद्यम कर रहा है। राग-द्वेष-मोहादि करना इस आत्मा का स्वाभाविक कार्य नहीं है। ये तो इस आत्मा के विकार हैं, इन विकारी भावों से तो इस जीव का संसार ही बढ़ता है।

अरे भाई! आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान और चारित्ररूप परिणामन होना स्वाभाविक गुण है। यह आत्मा शान्तरस से परिपूर्ण है, आनन्द से भरपूर है, इस आत्मा में आनन्द नाम की शक्ति है, आनन्दमय रहना इस आत्मा का स्वाभाविक गुण है; फिर भी यह आत्मा दुःखी क्यों है? दर-दर का भिखारी क्यों बना फिर रहा है?

यह आत्मा अनन्तज्ञान वाला है, इसमें स्वभावतः आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है, इसमें जानने-देखने की अचिन्त्य शक्ति है। फिर भी उसका पता न होने से यह अज्ञानी जीव अपने को दीन-दुःखी अनुभव करता है। अरे! इसके पास तो वह ज्ञानरूपी धन है कि यदि चाहे तो अनन्तकाल के लिए यह अपना दुःख मेट सकता है, अपने अनन्त आनन्दधाम भगवान आत्मा से मिल सकता है।

हे आत्मन! तू बाहरी पदार्थों से अपनी दृष्टि हटा, अपने अनन्त ज्ञानानंदघन के धनिक भगवान आत्मा की ओर अपनी दृष्टि लगा, उसी का चिन्तन कर, मनन कर, उसी में अपने उपयोग को लगा दे, जमा दे, और उसी में लीनता को प्राप्त होकर अनन्त काल के लिए सुखी हो जा, अनन्त संसार की असीम वेदनाओं से सदा के लिए मुक्त हो जा।

सभी जीव इस दुर्लभ मानवजीवन को पाकर अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझे, उसी में लीनता को प्राप्त होकर भव-भव के जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा प्राप्त करें - यही मंगल भावना है।

- (स्व. बाबूभाई मेहता विशेषांक से)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और श्रावकाचार

– पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के रचयिता आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे परम आध्यात्मिक संत, गहन तात्त्विक चिन्तक, रससिद्ध कवि, तत्त्वज्ञानी एवं सफल टीकाकार थे। आत्मरस में निमग्न रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र की सभी गद्य-पद्य रचनायें अध्यात्मरस से सराबोर हैं।

वे अपने परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा भी बहुत आदरपूर्वक स्मरण किए गए हैं।

समयसार के भाषा टीकाकार, पण्डित जयचंद छाबड़ा ने उन्हें 'सुधाचन्द्र सूरि करी संस्कृत टीका वर' तथा तत्त्वार्थसार के टीकाकार ने 'अमृतेन्दु महा सूरि नाना नय विशारदः' कहकर अमृतचन्द्र को 'सूरि' विशेषण लगाकर तथा 'नानानय विशारदः' कहकर स्तुति की है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के टीकाकार आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इन्हें 'मुनीन्द्र' उपाधि से अलंकृत करते हुए ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है :-

“अमृतचन्द्र मुनीन्द्र कृत ग्रन्थ श्रावकाचार,
अध्यात्मरूपी महा आर्याछन्द जु सार।
पुरुषार्थ की सिद्धि को जामें परम उपाय,
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै आतम तत्त्व लखाय।”

इसप्रकार मुनीन्द्र, आचार्य, सूरि जैसी गौरवशाली उपाधियों से उनके महान व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रांजल है। जहाँ

एक ओर इस ग्रन्थ में उनकी संस्कृत भाषा इतनी सरल व सहज बोधगम्य है, वहीं दूसरी ओर उनके टीका ग्रन्थों में लम्बी-लम्बी समासयुक्त पदावली भी देखी जा सकती है। अमृतचन्द्र का गद्य-पद्य दोनों शैलियों पर समान अधिकार है। वे केवल आध्यात्मिक संत ही नहीं, बल्कि एक रससिद्ध कवि एवं विचारशील लेखक भी हैं।

आपकी पद्य शैली में स्पष्टता, सुबोधता, मधुरता और भावाभिव्यक्ति की अद्भुत सामर्थ्य है। सभी पद्य प्रसाद गुण संयुक्त और शांत रस से सराबोर हैं। यद्यपि यह सम्पूर्ण ग्रंथ आर्या छन्द में है, तथापि आपके परम अध्यात्म तरंगिणी आदि पद्यकाव्यों में विविध प्रकार के छन्दों की इन्द्रधनुषी छटा भी दर्शनीय है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय :- प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली मौलिक रचना है। आजतक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्ठव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य किसी भी श्रावकाचार में निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया। प्रायः सभी विषयों के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन एवं भाषा शैली की स्पष्ट छाप छोड़ी है।

वे अपने प्रतिपाद्य विषय को सर्वत्र ही निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करते हैं। उक्त संदर्भ में प्रभावना अंग सम्बन्धी निम्नांकित छन्द दृष्टव्य हैं -

“आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव ।

दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावित करना निश्चय

प्रभावना है तथा दान, तप, जिनपूजा और विशेष विद्या द्वारा जिनधर्म की प्रभावना का कार्य करना व्यवहार प्रभावना है।

एक प्रकार से यह पूरा ग्रन्थ ही निश्चय-व्यवहार के समन्वय की सुगन्ध से महक उठा है।

नयविभाग के सम्यग्ज्ञान बिना आज निश्चय-व्यवहार के नाम पर समाज में जो विग्रह चल रहा है, उसके शमन का एकमात्र उपाय इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक पठन-पाठन ही है।

जिनागम के अध्ययन के लिए वे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि निश्चय-व्यवहार के ज्ञान बिना शिष्य जिनागम का रहस्य नहीं समझ सकता, अतः जिनागम के अभ्यास का अविकल फल भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे कहते हैं -

“व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तु स्वरूप से यथार्थ जानकर मध्यस्थ होता है, वह शिष्य ही उपदेश का अविकल फल प्राप्त करता है।

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का स्थान निर्धारित करने वाली गाथा प्रस्तुत करके टीकाकार पण्डित टोडरमल कहते हैं कि हमें पहले दोनों नयों को भले प्रकार जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें यथायोग्य अंगीकार करना चाहिये। किसी एक नय को पक्षपाती होकर हठाग्रही नहीं होना चाहिए। गाथा इस प्रकार है -

“जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छएमुअह।

एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेणपुण तच्चं॥”

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रय स्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा। और यदि व्यवहार का पक्षपाती

होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा।”

यह गाथा आचार्य अमृतचन्द्र को भी अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने आत्मख्याति में भी इसे उद्धृत किया है। वे अपनी टीकाओं में सहजरूप से कोई उद्धरण देते ही नहीं हैं, तथापि इस गाथा को उन्होंने उद्धृत किया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का आरम्भ करते हुए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं :-

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रणीयखिलम यत्नेन।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥

इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन की उपासना करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।”

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषायें निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक दी हैं, जो इसप्रकार हैं -

“जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।

श्रद्धानं विपरीताभिनवेश विविक्तमात्म रूपं तत्॥

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु।

संशय विपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥

चारित्रं भवति यतः समस्त सावद्य योग परिहरणात्।

सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥

जीवादि पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय से आत्मरूप ही है।

जीवादि पदार्थों का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान निश्चय से आत्मरूप ही है।

समस्त सावद्ययोग और सम्पूर्ण कषायों से रहित, पर पदार्थों से विरक्तरूप आत्मा की निर्मलता व्यवहार सम्यक्चारित्र है और वह

सम्यक्चारित्र भी निश्चय से आत्मस्वरूप ही हैं।”

यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि प्रत्येक परिभाषा के अन्त में ‘आत्मरूपं तत्’ पद पड़ा हुआ है, जिसका तात्पर्य है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र - ये तीनों ही निश्चय से आत्मरूप ही हैं, आत्मा ही हैं।

चारित्र के प्रकरण में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा का जैसा मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए वे लिखते हैं -

“अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥
यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥

निश्चय से आत्मा में रागादि भावों का प्रगट न होना ही अहिंसा है, और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही निश्चय से हिंसा है।

कषाय रूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग से स्व-पर के द्रव्य व भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना ही हिंसा है।”

प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गई है। सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविध रूपों का वर्णन है।

पाँचों पापों को एवं कषायादि को हिंसा में ही सम्मिलित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं -

“आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यवोधाय ॥”

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घातक होने से ये सब पाँचों पाप एवं कषायादि सब हिंसा ही हैं, असत्य वचनादि के भेद तो केवल

शिष्य को समझाने के लिए कहे हैं।”

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति और उनके निमित्त से स्व-पर प्राण व्ययरोपण को हिंसा कहा है। झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और स्व-पर प्राणों को पीड़ा भी पहुँचती है - इस कारण झूठ, चोरी आदि पाप भी प्रकारान्तर से हिंसा ही है।

“सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसा ।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती, तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि से एवं अन्तरंग कषायादि का त्यागकर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।”

आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के अनेक भंगों की मीमांसा की है, जो मूलतः पठनीय है।

जैन दर्शन का मूल ‘वस्तुस्वातंत्र्य’ जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कार्य स्वयं में ही होता है; पर पदार्थ तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

निमित्त-उपादान की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं। जीव के परिणाम रूप भावकर्म एवं पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध हैं - इस बात को वे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणामन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥
परिणाममानस्य चितचिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

जीव के रागादि परिणामों का निमित्त मात्र पाकर कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप में परिणमित होते हैं। इसीप्रकार जीव भी स्वयं ही

रागादि भावरूप परिणमता है, पुद्गल कर्मों का उदय तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।”

उक्त दोनों ही छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वयं से ही होता है, पर पदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होते हैं।

“रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है।

अन्य नहीं और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है।”

-इस तथ्य को भी इसमें बड़ी खूबी से उजागर किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप निश्चय रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, शुभ भाव रूप व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् रागभाव मुक्ति का कारण नहीं है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य निश्चय से मुक्ति के ही कारण हैं, बन्ध के कारण रत्न मात्र नहीं हैं।

इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बन्ध नहीं हैं तथा जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है। यह भाव भी निम्नांकित तीन गाथाओं में व्यक्त किया है -

“येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

जीव के तीन प्रकार हैं (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा । बहिरात्मा के तो रत्नत्रय हैं ही नहीं, अतः उनके तो सर्वथा बंध ही है और परमात्मा का रत्नत्रय परिपूर्ण हो चुका है। अतः उनके बन्ध का सर्वथा अभाव है। बस एक अन्तरात्मा ही है, जिनके अंशरूप में रत्नत्रय प्रगट

होता है। वे अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। उनके जिस अंश में रत्नत्रय प्रगट हुआ है, उस अंश में राग का अभाव होने से कर्मबंध नहीं होता और जिस अंश में राग रहता है, उस अंश से कर्मबंध होता है।

श्रावकाचार का निरूपण करते हुए आ. अमृतचन्द्र कहते हैं।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीय मखिलयत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१

इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों के साथ सम्यग्दर्शन को अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य होते हैं। सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में उससे भी पहले - मद्यमास मधु, स्थूल पाँच पापों का त्याग, रात्रि भोजन त्याग होना चाहिए। इनके त्यागे बिना तो सम्यग्दर्शन की पात्रता भी नहीं आयेगी।

इसके बाद प्रस्तुत ग्रन्थ में देशव्रती श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन है। देवदर्शन-शास्त्र-स्वाध्याय और गुरु की उपासना करना, जल छानकर उपयोग में लेना आदि भी श्रावक के प्राथमिक कर्तव्य हैं। इनके बिना भी मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं होता। इनके बाद देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप और अन्त में सल्लेखना का भी वर्णन है।

विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र की यह मौलिक एवं अनेक विशेषताओं से समृद्ध अनुपम कृति है। जो विद्वद्गर्ग एवं आत्मार्थिजनों के द्वारा गहराई से अध्ययन करने योग्य हैं, नित्य स्वाध्याय करने योग्य हैं।

□

वर्तमान संदर्भ में भगवान महावीर के सिद्धान्तों की उपयोगिता

– पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल

भारत विविध वर्गों, विविध समाजों, विविध सम्प्रदायों और विविध जातियों का ऐसा बृहद बगीचा है; धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाजों, पुरातन परम्पराओं की ऐसी चित्र-विचित्र वाटिका है, जिसमें नाना संस्कृतियों के रंग-बिरंगे फूल खिलते रहे हैं, खिल रहे हैं।

भारतीय जन-जीवन में धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में पुरातन परम्परागत मूलतः दो संस्कृतियों का बाहुल्य रहा है। एक श्रवण संस्कृति और दूसरी वैष्णव (वैदिक) संस्कृति। श्रवण संस्कृति में वर्तमान में भारत में मात्र जैन संस्कृति ही अधिक फूल-फल रही है; क्योंकि इसके नैतिक मूल्य 'अहिंसा परमोधर्मः' के सिद्धान्त पर आधारित हैं तथा जैनधर्म का मूल आधार अध्यात्म है, अहिंसा है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य और सामाजिक सत्य है कि जब दो भिन्न सामाजिक संस्कृतियाँ, भिन्न-भिन्न जातियाँ अथवा भिन्न-भिन्न धर्मों को माननेवाले परिवार एक ही मौहल्ले में पास-पड़ोस में साथ-साथ रहते हैं तो वे एक-दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं रहते। जैनों के मौहल्ले में रहनेवाले जैनेतर समाज भी जैनों के आकर्षक धार्मिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगते हैं, जैनों के शुद्ध-सात्विक खान-पान और आचार-विचार से प्रभावित होकर दिन में खाने लगते हैं, पानी छानकर पीने लगते हैं। अभक्ष्य आहार और अनैतिक व्यवहार का भी त्याग कर देते हैं तथा ब्राह्मणों के मौहल्ले में रहनेवाले मुस्लिम भाई भी दशहरा-दिवाली मनाने लगते हैं। निःसन्देह जैनधर्म में कुछ ऐसे अनुकरणीय

सिद्धान्त हैं, ऐसे आचरणीय आचरण हैं, जिसे अपना कर लोगों का जीवन धन्य हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है। यही कारण है अनेक जैनेतर प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भी जैन धर्म के सिद्धान्त और आचार-विचार को अपनाया है, इसका हृदय से स्वागत किया है। जैन इतिहास इसका साक्षी है।

जैनधर्म न केवल एक वर्ग विशेष तक ही सीमित है; बल्कि यह धर्म विश्वधर्म है, यह धर्म सार्वजनिक है, सार्वभौमिक है और सार्वकालिक है – ऐसा कोई देश नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो जैनधर्म के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष से प्रभावित न हो, सहमत न हो; क्योंकि जैनधर्म मूलतः जैनदर्शन के चार महान सैद्धान्तिक स्तम्भों पर खड़ा है। वे चार स्तम्भ हैं – अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह।

जैनों के आचरण में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और व्यवहार में अपरिग्रह का सिद्धान्त समाया हुआ है। सूक्ष्म सिद्धान्तों की चर्चा तो संभव नहीं है; परन्तु अहिंसा एवं अपरिग्रह सिद्धान्तों का भी आज प्राणिमात्र के लिए बहुत भारी प्रदेय है।

जैनों की अहिंसा न केवल मानव के प्राणघात न करने तक ही सीमित है, बल्कि किसी भी जीव को, प्राणी मात्र को न सताना, न दुःख पहुँचाना तथा अपने आत्मा में भी किसी के प्रति राग-द्वेष न रखना 'अहिंसा' व्यापक क्षेत्र में शामिल है। झूठ, चोरी, कुशील आदि से भी दूसरों के प्राण पीड़ित होते हैं। इसी कारण आचार्य अमृतचन्द्र ने झूठ, चोरी, कुशील और विषयभोग की सामग्री के अनुचित संग्रह को भी हिंसा पाप में ही सम्मिलित करके इनके त्याग को अहिंसा का व्यापक स्वरूप दर्शाया है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में कहते हैं –

आत्म परिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेतत् ।

अनृतवचनादिमुदाद्धतं शिष्य बोधाय ॥ (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

भारत के सन् १९४७ के उस आजादी के इतिहास को स्मरण करें, जिसमें एकमात्र अहिंसा के अस्त्र ने वह कमाल कर दिया था। महात्मा गाँधी ने जिस अहिंसा के अस्त्र से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, वह अहिंसा जैनधर्म की ही अहिंसा है, जिसमें कहा गया था कि हमें 'गोली का जवाब गाली' से भी नहीं देना है। महात्मा गाँधी की वह अहिंसा और जवाहरलाल नेहरू के वे शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व, अहस्तक्षेप और अनाक्रम आदि पंचशील सिद्धान्त तथा बाल गंगाधर तिलक का वह नारा, जिसमें कहा गया था कि 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' ये सब किसी न किसी रूप में जैनधर्म के ही प्रदेय हैं। जैनधर्म में तो यहाँ तक कहा गया है कि स्वतंत्रता हमारा अनादिसिद्ध अधिकार है। जैनधर्म न केवल नर से नारायण बनानेवाला दर्शन है; बल्कि यह तो पशु से परमात्मा बनानेवाला दर्शन है। यह तो यह कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी कारण परमात्मा हैं ही, यदि अपनी शक्ति को, अपने स्वभाव को जान ले, पहचान ले तो हम प्रगट पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने परमात्मा बनने की प्रक्रिया अपने पूर्व भव की हाथी की पर्याय में प्रारम्भ की थी और भगवान महावीर ने अपने पूर्व भव की सिंह की पर्याय में।

कोई कह सकता है कि वर्तमान के भौतिकवादी, भोगवादी इस अर्थप्रधान हिंसक युग में क्या हुआ आपके उन अहिंसा आदि सिद्धान्तों का? आज जैनेतरों की तो बात ही क्या कहें जैन भी हिंसा और परिग्रह की पराकाष्ठा का उल्लंघन करते पाये जा रहे हैं?

उनसे हम एक कहानी के माध्यम से मात्र इतना कहना चाहते हैं कि - एक बार बड़वाग्नि (समुद्र के तल में जलनेवाली अग्नि) से समुद्र अकड़ कर बोला - 'तू मेरे भीतर अनादिकाल से जल रही है, क्या बिगाड़ लिया तूने मेरा? मैं तो तेरी छाती पर वैसा ही लवालव भरा हुआ अपने ज्वार-भाटों द्वारा अठखेलियाँ कर रहा हूँ?'

बड़वाग्नि ने विनम्रभाव से कहा - जिसके ऊपर समुद्रों पानी पड़ा हो; फिर भी जो अनादि से अपने अस्तित्व को कायम रखकर उस अथाह और अपार समुद्र की नाक में नकेल डालकर उसपर नियंत्रण कर रही हो; उसे अपनी मर्यादा में रखें हो, मर्यादा का उल्लंघन न करने दे रही है, उसके अस्तित्व और शक्ति के लिए यह क्या कम है।

ठीक इसीप्रकार इस भौतिकवादी, भोगवादी और अर्थप्रधान युग में भी जैनधर्म अपना अस्तित्व कायम किए हुए है और करोड़ों व्यक्तियों को अपने आचार-विचार और अहिंसा आदि के सिद्धान्तों से नियंत्रित किये रहता है, उसके प्रदेय के लिए यह क्या कम है।

भले ही व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत कमजोरी के कारण सम्पूर्ण रूप से अहिंसक आचरण नहीं कर पाता हो, व्यसनों का त्याग न कर पाता हो, अपरिग्रह के सिद्धान्त को पूरी तरह न अपना पाता हो, तथापि सिद्धान्त रूप से तो प्रायः सभी व्यक्ति जैनाचार और जैन सिद्धान्तों का प्रशंसक ही हैं।

जैनसमाज की समृद्धि का कारण भी जैन आचरण ही है; वह कितना भी खर्च करे; शुद्ध-सात्विक शाकाहारी दाल-रोटी में कितना खर्च होगा? दूध-घी में भी रहे तो भी मांसाहार और शराब के साथ जिसे रंगरेलियों के लिए सुन्दरियाँ भी चाहिए, उनकी तुलना में तो वह खर्च कुछ भी नहीं है। जैनधर्म के अनुसार मांसाहार और शराब, भाँग, चरस-गांजा आदि तो त्याज्य हैं ही, परस्त्रीगमन और वैश्यागमन को भी दुर्व्यसन कहकर उसकी घोर निंदा की है। शराबी नशेबाज और परनारी रत जैनी का जैन समाज में कोई स्थान नहीं होता, ऐसा व्यक्ति सम्पूर्णतया उपेक्षित और बहिष्कृत ही रहता है; जबकि जैनेतर समाज में धर्म के नाम पर भी प्राणियों की हिंसा और नशीली वस्तुओं का उपयोग हो रहा है वह भी तथाकथित साधु-सन्तों और महन्तों द्वारा, जो विवेक से विचार करने पर किसी भी विवेकी को स्वीकृत नहीं हो सकता। उन्हें जैनधर्म के सदाचार से कुछ अवश्य

सीखना चाहिए।

दान और उदारता के क्षेत्र में भी जैनसमाज सदैव अग्रणी रहा है। यह उदारता भी जैनों ने अपने धर्म और दर्शन से ही सीखी है। आचार्य उमास्वामी का स्पष्ट आदेश है - “अनुग्रहार्थं स्वस्याति सर्गो दानं” अर्थात् अपने और दूसरों की भलाई के लिए अपने न्यायोपात्त उपार्जित धन का देना ही सच्चा दान है। आज हम देखते हैं कि हजारों बड़े-बड़े शिक्षा संस्थान, धर्मायतन, औषधालय, छात्रवृत्तियाँ आदि द्वारा अनगिनत लोकोपकारी कार्य जैनसमाज द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं। यही सब जैनधर्म का भारतीय समाज को प्रदेय है। मैं अपेक्षा करता, आशा रखता हूँ कि जैन और जैनेत्तर समाज जैनधर्म को जीवन में अपनाकर इसी तरह अध्यात्म और लोकोपकार के क्षेत्र में अग्रणी रहकर अपना मानव जीवन सार्थक एवं सफल करें।



चरित्र निर्माण

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

मानव मन की दो ही प्रमुख अभिलाषाएँ हैं - एक सुख और दूसरा यश। जगत के जीवों के जितने भी प्रयत्न हैं, छोटे-छोटे दैनिक जीवन के कार्य कलापों से लेकर बड़ी बड़ी गूढ़ और गम्भीरतम् समस्याओं के पीछे जब हम झाँक कर देखते हैं तो उक्त दो ही इच्छाओं की पूर्ति के प्रयास हमें अंततः परिलक्षित होते हैं।

यदि हमें सच्चा सुख और असली यश कहीं प्राप्त हो सकता है तो वह है हमारा चरित्र! चरित्रवान व्यक्ति को उक्त दोनों ही बातें अनायास सहज साध्य हो जाती है। चरित्रवान व्यक्ति ही जीवन में सुख व यश के पात्र होते हैं और यश के मूल में भी सुख की ही अभिलाषा अव्यक्त रूप से विद्यमान होती है; क्योंकि अपयश प्राप्त मानव अशांत और व्याकुल नजर आता है। और यश प्राप्त करके अपने को सुखी अनुभव करता है। इसलिये एक कवि ने कहा है -

“जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख ते भयवंत,

ताते दुख हारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार”

“वह सीख चरित्र निर्माण की ही सीख है जो गुरु जी करुणा करके शिष्य को दिया करते हैं।

वह चरित्र क्या है। और उसका निर्माण कैसे होता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। चरित्र उन सद्वृत्तियों का समूह है जो हमारे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध तो रखते ही हैं निराकुल सुख भी सदाचारी और चारित्रवान व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। ये सद्वृत्तियाँ मुख्यतः उन्हें सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् आचरण से ही विकसित होती हैं। इन्हीं में

विनय, उदारता धैर्य, ईमानदारी, सच्चाई, सन्तोष, दृढ़ता, स्वाभिमान, स्वावलम्बन आदि सभी सद्वृत्तियाँ आ जाती हैं।

ऐसा कोई काम न करना जो स्वयं को अच्छा नहीं लगता। यह विचार चरित्र निर्माण का मूल मन्त्र है। कहा भी है “आत्मनःप्रतिकूलानि परेसां न समाचरेत्” हम नहीं चाहते हैं कि कोई हमें सताये, धोखादे और हमारी वस्तुएँ चुराये; यदि कोई ऐसा करता है तो कल्पना कीजिए हम कितने दुखी होते हैं। हम नहीं चाहते हैं कि कोई हमारी माँ बहिन को कुदृष्टि से देखे। काश! यदि कोई ऐसी भूलकर बैठता है तो हम को कैसा लगता है? क्या हम उसे प्राणदण्ड तक सजा देने को तत्पर नहीं हो उठते? फिर सोचिए यदि हम दूसरों के साथ ऐसा ही व्यवहार करें तो? यही तो वे पाप हैं जिन्हें आचार्य हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील कहते हैं।

इसी प्रकार जुआ खेलना, शराब पीना आदि भी कुछ ऐसे दुर्व्यसन हैं जो हमें अशांत और अज्ञानी बनाते हैं, हमारे चरित्र का हनन करते हैं यश का नाश करते हैं, सुख को समाप्त कर देते हैं। इनके रहते हमारे श्रद्धा, ज्ञान व आचरण सम्यक् नहीं हो सकते। अतः पापों की तरह ये व्यसन भी सर्वथा त्याज्य हैं।

सम्यक् श्रद्धा का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व का विश्वास जो अपनी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और जैनदर्शन में दर्शाये छह द्रव्य व सात तत्त्वों में श्रद्धा रखते हैं। कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

ऐसे जीवों का आचरण भी फिर पापरूप नहीं होता, यही सम्यक् आचरण है। अपनी आत्मा के अस्तित्व की एवं जगत में अन्य आत्माओं के अस्तित्व की यथार्थ जानकारी का नाम ही सम्यक्ज्ञान है, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्ज्ञानपूर्वक जो पवित्र आचरण है वही सम्यक् आचरण है।

ऐसे व्यक्ति के जीवन में धैर्य, उदारता, सच्चाई, सन्तोष, स्वाभिमान स्वावलम्बन जैसी सद्वृत्तियाँ सहज ही आ जाती हैं। धैर्यधारी व्यक्ति

आपत्ति आने पर विचलित नहीं होते, प्रलोभनों के जाल में नहीं फँसते और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

“विकार - हे तौ सति विक्रियन्ते एसां न चेतांसि त एव धीराः” अर्थात् विकार के कारण उत्पन्न होने पर जिनका चित्त विचलित नहीं होता वे ही धीर हैं।”

उदारता के अन्दर वे भाव आते हैं जिनमें अपने छुद्र स्वार्थ का परित्याग करना पड़ता है। दूसरों के प्रति समता-भाव रखना, उनके विचारों का आदर करना, स्वयं श्रेय न लेकर दूसरों को देना आदि बातें उदारता की सीमा में आती हैं, दूसरों की छोटी-छोटी बातों का महत्व देना, उपयुक्त स्थान पर दिल खोलकर निर्लोभ वृत्ति से दान देना यह सब उदारता ही है।

सत्य ही चरित्र की सच्ची कसौटी है। जब किसी की आत्मा को आघात पहुँचाना हिंसा है तो अपनी आत्मा का गला घोटना भी तो हिंसा ही है और लोग झूठ बोलकर ऐसा करते रहते हैं, जिसके कारण अनेकानेक दुर्गुणों के लिए मन का द्वार खुल जाता है। इसलिए कहा गया है -

**“साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप”**

सत्य बोलने वाला ही संसार में आदर पाता है।

लोभ - लालच में पड़कर मानव अपना सर्वस्व नष्ट कर डालते हैं, लालची मनुष्य के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं, उनकी बातों का किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह एक ही अवगुण उसके समस्त गुणों पर पर्दा डाल देता है, अतः चरित्र निर्माण में इसका भी ध्यान रखना अति आवश्यक है। सच्चे आत्मज्ञानी मानव में ये दोष नहीं होता; क्योंकि उन्हें अपने धर्म, कर्म और पुरुषार्थ पर पूरा पूरा भरोसा रहता है -

यदि कोई हिन्दू कर्म में श्रद्धावाले भी यही कहते हैं कि -

“हुड़है वही जो राम रचि राखा”

यदि वह मुस्लिम है, तो सोचता है -

“खुदा की मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता”

यदि वह जैन है तो कहता है -

“जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होती वीरा रे”, आदि।

इसी प्रकार सभी धर्म अपने आराध्य देव को सर्वज्ञ और समदर्शी मानते हैं। ये आराध्यदेव मानव को सत्कार्य करने की ही प्रेरणा देते दिखते हैं।

चरित्रवान व्यक्ति स्वाभिमानी और स्वावलंबी होते हैं। उनका आत्म गौरव बढ़ा-चढ़ा होता है। यह स्वाभिमान और आत्म गौरव भी मानव को पापाचरण से रोकता है। इन सबका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो स्वाभिमानी है, वह लोभी नहीं हो सकता, जो लोभी है वह स्वाभिमानी नहीं हो सकता। आदि.....

ये सभी गुण अभ्यास से प्राप्त होते हैं। बाल्यावस्था चरित्र-निर्माण के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समय है। इस समय जो सद्बिचार बन जाते हैं, वे कभी नहीं भूलते। बचपन में सीखा हुआ तैरना मनुष्य जीवन भर नहीं भूलता!

यदि अपना जीवन सफल करना है, सार्थक बनाना है तो हमें अपने चरित्र का निर्माण करना होगा, तभी हम सुख और यश के पात्र बन सकेंगे। भारत का भविष्य भारत की होनहार भावी पीढ़ी पर ही निर्भर है। चरित्रवान व्यक्ति ही देश को उन्नति का पथ प्रदर्शित कर सकते हैं। चरित्रवान व्यक्ति देश के गौरव हैं और चरित्रहीन व्यक्ति देश के लिए कलंक हैं और वे दिन प्रतिदिन उसी प्रकार बिगड़ते जाते हैं, जिस प्रकार मेले कपड़े वाला मनुष्य हर कहीं मलिन स्नान पर बैठ जाता है। ठीक इसके विपरीत स्वच्छ वस्त्रधारी झाड़ फूँक कर बैठता है! कहा भी है -

“यथा हि मलिनैः वस्त्रैः,

यत्र तत्रौपविश्यते।

एवं चनित वृत्तस्तु,

वृत्तशेषं न रक्षति ॥”

अतः शालाओं में चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

(सन् १९७८ में इन्टर कॉलेज की वार्षिक पत्रिका ‘चेतना’ का सम्पादकीय)



अहिंसा परमो धर्मः

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

हिसनं हिंसा इति । कस्यापि पीड़नं दुःख दानं वा हिंसा इति कथ्यते हिंसा त्रिधा भवति मनसा, वाचा, कर्मणा च । मनुष्यः यदि राग-द्वेष, यशात् हानि वा चिन्तयति सा मानसिकी हिसा भवति, शुभा शुभं लाभ भाव हिंसापि अपर नामधेयं अस्या । यदि कठोर भाषणेन, कटुप्रलापेन, दुर्वचनेन, असत्य भाषणेन वा कमपिदुःखितं करोति तर्हि सा वाचकी हिंसा भवति । यदि जनः कस्यापि जीवनस्य हननं करोति ताड़नादिना, दुःखं ददाति, तर्हि सा कायिकी हिंसा भवति । द्रव्य हिंसापि अस्या अपर नाम । एतेषां हिंसानां परित्यागो अहिंसा इति निगद्यते ।

संसारे अहिंसाया महती उपयोगिता वर्तते । गवादीनां पशूनां यदि हननं न स्यात् तर्हि देशे धन-धानस्य दुग्धादीनां च न्यूनता न स्यात् । अहिंसायाः प्रतिष्ठायां सर्वे सर्वत्र ससुखं निर्भयं च विचरन्ति । एतत् तु सर्वेः अनुभूयते एव यत् न कोऽपि जगति स्वविनाशं इच्छति । यदि एवमेव पशु पक्षिणामपि विषये चिन्तयेत तर्हि न कस्यचित् हननं कश्चित् करिष्यति । अत्रैव ऋषिभिः “अहिंसा परमो धर्मः” इति अंगीकृतः । उच्यते च-आत्मनः प्रतिकूलनि परेषां न समाचरेत् ।

अतः एव सर्वैरपि सर्वदा अहिंसा परमो धर्मः पालनीयः लौकस्य च कल्याण कर्तव्यम् ।

हिन्दी अनुवाद

घात करना ही हिंसा है । किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना, दुख देने को हिंसा कहते हैं । हिंसा तीन तरह से होती है । मन से, वचन से और काया से । मनुष्य यदि किसी के बारे में राग-द्वेष वश भला-बुरा विचारता

है । या उसको लाभ-हानि करना चाहता है । तो वह हिंसा मानसिक है । इसे भाव हिंसा भी कहते हैं । यदि कठोर वचन से दुर्वचन से तथा झूठ बोलकर किसी को दुखी करता है । तो वह वाचकी हिंसा है और यदि मनुष्य किसी जीव का घात करता है, उसे ताड़ना देता है, अथवा दुःख देता है । तो वह काय की हिंसा होती है । इसे द्रव्य हिंसा भी कहते हैं ।

इस प्रकार की हिंसा का त्याग ही अहिंसा है । संसार में अहिंसा की बड़ी उपयोगिता है । गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं का यदि घात न हो तो देश में धन धान्य और दूध की कमी नहीं हो सकती । अहिंसा की प्रतिष्ठा में सभी प्राणी सब जगह सुख से और निर्भयता से विचरण करें । यह तो सभी अनुभव करते हैं कि जगत में कोई भी अपना विनाश नहीं चाहता । यदि यही बात पशु पक्षियों के विषय में भी सोच लें तो कोई किसी का घात नहीं करेगा । इसीलिये ऋषियों ने ‘अहिंसा परमो धर्मः’ का सिद्धान्त अंगीकार किया है । कहा भी है – जो अपने को अच्छा न लगे ऐसा कोई भी व्यवहार दूसरों के साथ मत करो । इसलिये सभी को सर्वदा अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिये । और लोक कल्याण करना चाहिये ।

